खंड : 1 । अंक : 2 । जनवरी – मार्च, 2021

Volume : 1, Issue : 2, January - March, 2021

Centre for Literary & Cultural Studies
C.L.C.S

प्राग्ज्योतिका

pragjyotika

साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान और प्रदर्शनकारी कलाओं की शोध-पत्रिका

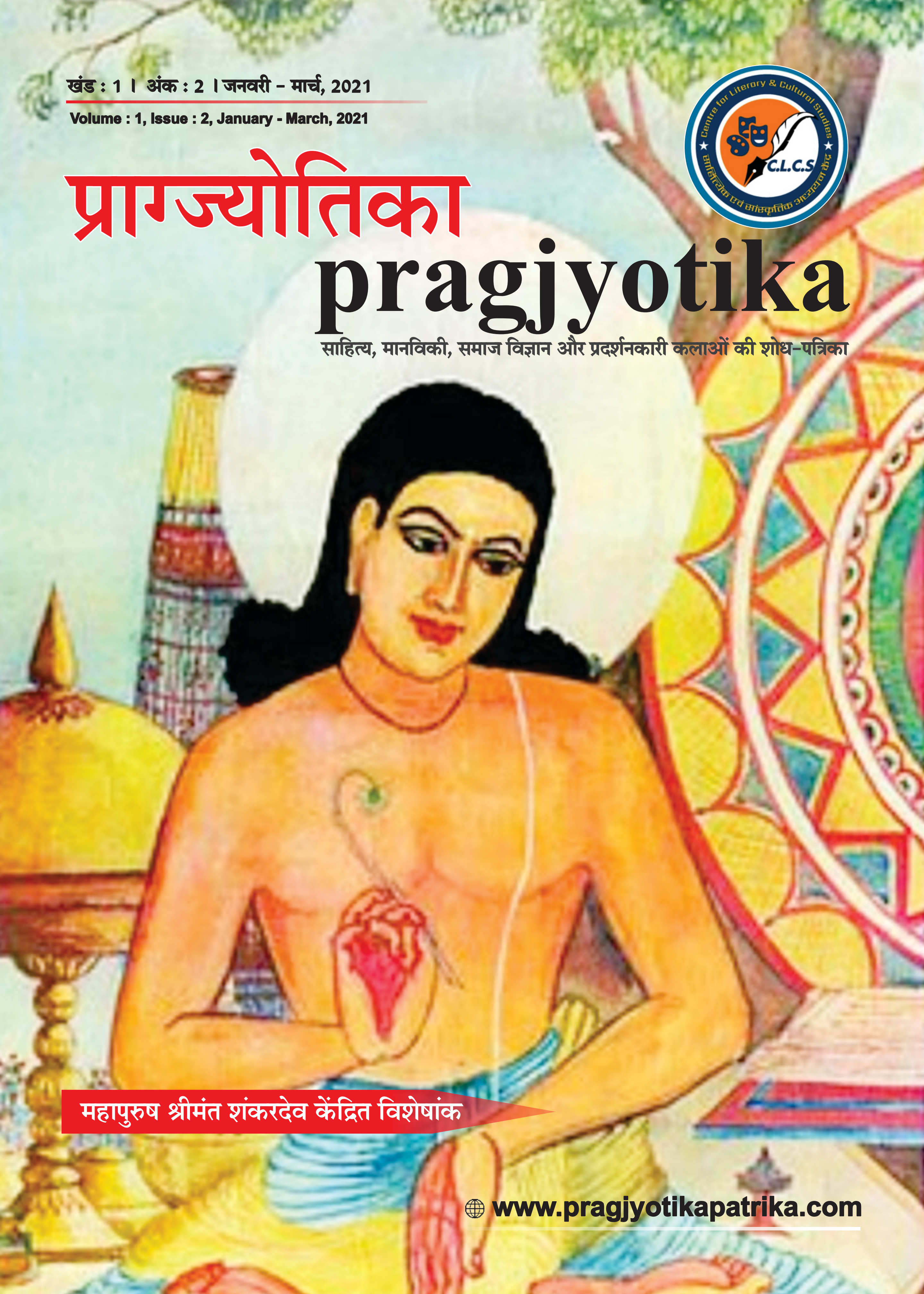

महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव केंद्रित विशेषांक

www.pragjyotikapatrika.com

सूचना

01. यह पत्रिका विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मानकों के अनुसार 'पीयर रिव्यूड एंड रेफ्रीड' शोध पत्रिका है।
02. पत्रिका में प्रकाशित होने वाले लेखों का प्लेगरिज्म (Plagiarism) परिक्षण अनिवार्य है।
03. शोध लेख हिंदी अथवा अंग्रेजी भाषा में होना चाहिए।
04. शोध संदर्भ, तथ्य, वक्तव्य आदि का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए।
05. शोध लेख मौलिक एवं अप्रकाशित होना चाहिए।
06. लेख में शोध संदर्भों का उपयोग अकादमिक शोध नियमों के अनुपात में होना चाहिए।
07. शोध लेख के साथ लेखक अपना संक्षिप्त परिचय, पासपोर्ट आकार का फोटो, ईमेल तथा मोबाइल नंबर अवश्य लिखें।
08. शोध पत्र 3000 से 5000 शब्दों तक हो सकता है। कंप्यूटर पर अंकित शोध सामग्री ही स्वीकार की जाएगी। इसके लिए हिंदी में यूनिकोड अथवा मंगल फॉन्ट का प्रयोग किया जाए।
09. आप लेख pragjyotikapatrika@gmail.com पर भेज सकते हैं।
10. प्रत्येक अंक की सूचना पत्रिका की वेबसाइट www.pragjyotikapatrika.com पर उपलब्ध रहेगी।
11. शोध पत्रिका की किसी भी सामग्री का बिना अनुमति अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
12. शोध पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer-Review committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।
13. पत्रिका के सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
14. पत्रिका का प्रकाशन पूर्णतः अव्यवसायिक है।

आवरण चित्र

'प्राग्ज्योतिका' पत्रिका के आवरण पृष्ठ पर अंकित चित्र महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव जी का है। यह चित्र असम के ख्यात चित्रकार श्री विष्णुप्रसाद राभा द्वारा बनाया गया है। श्री विष्णुप्रसाद राभा का जन्म बांग्लादेश के ढाका नामक स्थान पर हुआ था। विष्णुप्रसाद राभा कुशल अभिनेता, चित्रकार, नृत्यकार, संगीतकार, कवि, नाटककार एवं असम विधानसभा के पूर्व सदस्य रहे हैं। काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश (भारत) में उनके 'नटरा नृत्य' पर मुग्ध होकर विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने विष्णुप्रसाद राभा को 'कलागुरु' की उपाधि दी थी। विष्णुप्रसाद राभा द्वारा बनाया गया श्रीमंत शंकरदेव जी का यह चित्र असमिया समाज में लोकप्रिय है। श्रीमंत शंकरदेव असमिया समाज में नववैष्णव आंदोलन के जन्मदाता माने जाते हैं। श्रीमंत शंकरदेव का भावबोध और भाषाबोध दोनों ही उनके यात्राबोध से निर्मित हैं। उनकी भक्ति भावना के केंद्र भगवान कृष्ण ही हैं, यद्यपि उन्होंने भगवान राम को लेकर भी नाटक लिखे हैं। उन्होंने अपने जीवनकाल में संपूर्ण भारत को जोड़ने का प्रयास किया। इसी का प्रमाण है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में भारतभूमि को 'जंबूद्वीप मध्यत भारत श्रेष्ठतर' कहा है यानी जंबूद्वीप में भारतभूमि श्रेष्ठ है। उन्होंने समाज में आपसी बंधुत्व और प्रेम को बढ़ाने के लिए सत्रों एवं नामघरों की स्थापना की। ये सत्र और नामघर धर्म, कला, संस्कृति के साथ-साथ न्याय एवं आर्थिक गतिविधियों में भी सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

खंड : 1 । अंक : 2 । जनवरी-मार्च, 2021

प्राग्ज्योतिका

साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान और प्रदर्शनकारी कलाओं की 'पीयर रिव्यूड एंड रेफ़्रीड' शोध पत्रिका

संपादक

प्रो. चंदन कुमार
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

सह संपादक

डॉ. सत्य प्रकाश पाल

डॉ. उमेशचन्द्र सिरसवारी

तेजी ईशा

शशि कुमार द्विवेदी

समीक्षा समिति

प्रो. त्रिभुवन प्रसाद
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

प्रो. प्रकाश नारायण
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

प्रो. राकेश कुमार उपाध्याय
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी,
उत्तर प्रदेश-121005

प्रो. ओकेन लेगो
राजीव गांधी विश्वविद्यालय, ईटानगर,
अरुणाचल प्रदेश-791111

डॉ. दिब्यज्योति महंत
कृष्णकांत हांडिक राज्यस्तरीय मुक्त विश्वविद्यालय,
गुवाहाटी, असम- 781017

डॉ. नरेंद्र शुक्ल
नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय,
दिल्ली-110011

परामर्श मंडल

प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर,
राजस्थान-302004

प्रो. दिनेश चौबे
नॉर्थ-ईस्टर्न हिल विश्वविद्यालय, शिलांग,
मेघालय-793022

प्रो. हरीशकुमार शर्मा
सिद्धार्थ विश्वविद्यालय कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर,
उत्तर प्रदेश- 272202

प्रो. हितेंद्र मिश्र
नॉर्थ-ईस्टर्न हिल विश्वविद्यालय, शिलांग,
मेघालय-793022

प्रो. संजय कुमार
मिज़ोरम विश्वविद्यालय, आइजोल,
मिज़ोरम- 796004

प्रो. यशवंत सिंह
मणिपुर विश्वविद्यालय, इम्फाल,
मणिपुर-795003

डिजाइनिंग एवं टाइपिंग

जितेन्द्र सिंह
गरिमा त्रिपाठी
हर्षेन्द्र त्रिपाठी

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली-110089

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI- 110089

Volume : 1, Issue : 2, January - March, 2021

pragjyotika

Peer-Reviewed & Refereed Journal of Literature, Humanities, social science and Performing Arts

Editor

Prof. Chandan Kumar
University of delhi, Delhi-110007

Sub Editor

Dr. Satya prakash Pal

Dr. Umesh chandra sirasawari

Tejee isha

Shashi kumar dwivedi

Peer-Review Committee

Prof. Tribhuwan Prasad
University of Delhi, Delhi-110007

Prof. Prakash Narayan
University of Delhi, Delhi-110007

Prof. Rakesh Upadhyay
Banaras Hindu University
Varanasi(UP)-121005

Prof. Oken Lego
Rajiv Gandhi University, Itanagar,
Arunachal Pradesh-791111

Dr. Dibyajyoti Mahanta
Krishna Kanta Handiqui State Open
University, Guwahati, Assam-781017

Dr. Narendra Shukla
Nehru Memorial Museum and Library,
New Delhi-110011

Advisory Board

Prof. Nand Kishore Pandey
University of Rajasthan, Jaipur-302004

Prof.Dinesh Choubey
North Eastern Hill University, Shillong,
Meghalaya- 793022

Prof. Harish kumar Sharma
Siddharth University Kapilvastu,
Siddharth Nagar (UP)-272202

Prof. Hitendra Mishra
North Eastern Hill University, Shillong,
Meghalaya-793022

Prof. Sanjay kumar
Mizoram University, Aizawl,
Mizoram-796004

Prof. Yashwant Singh
Manipur University, Imphal,
Manipur-795003

Designing And Typing

Jitendra singh
Garima tripathi
Harshendra tripathi

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली-110089

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI- 110089

साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान
और प्रदर्शनकारी कलाओं की त्रैमासिक
शोध-पत्रिका- प्राग्ज्योतिका

प्राग्ज्योतिका, खंड : 1, अंक : 2, जनवरी-मार्च, 2021

© साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली (भारत)

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI, (INDIA)

प्रकाशक : साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली (भारत)

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI, (INDIA)

संपादकीय कार्यालय : यूनिट नंबर-108 (प्रथम तल), वर्धमान एसी मार्केट सी. एस. सी, ब्लॉक-ई, सेक्टर-18, रोहिणी, दिल्ली-110089 (भारत)
मोबाइल : 8368558249
ई-मेल : pragjyotikapatrika@gmail.com

UNIT NO-108 (1ST FLOOR),
VARDHMAN AC MARKET, C.S.C, BLOCK-E
SECTOR-18, ROHINI, DELHI-110089

मूल्य :	व्यक्तिगत प्रति अंक	: ₹250
	वार्षिक	: ₹1000
	विदेशों में प्रति अंक	: $ 05
	वार्षिक	: $ 15
	संस्थागत वार्षिक	: ₹1500

मुद्रक : साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली (भारत)

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI, (INDIA)

इस पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के मत और स्थापनाओं का 'साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली' व 'प्राग्ज्योतिका' का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए स्वामी/प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है। किसी भी विवाद के निपटारे का न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

स्वामित्व : साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली (भारत)

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI, (INDIA)

अनुक्रमणिका

1. संपादक की कलम से................................02
प्रो. चंदन कुमार

2. प्राग्ज्योतिष क्षेत्र की समरसता के उन्नायक : श्रीमंत शंकरदेव...03
डॉ. कृष्ण गोपाल

3. शंकरदेव की जीवनी....................................06
बापचन्द्र महंत

4. भक्ति आंदोलन और शंकरदेव.......................10
प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

5. रामाख्यानक परंपरा में श्रीमंत शंकरदेव की कृतियों का मूल्यांकन..15
प्रो. दिनेश चौबे

6. शंकरदेव और सूरदास के काव्य में वर्णित 'गोपी-उद्धव' संवाद का तुलनात्मक अध्ययन................18
डॉ. विजय मणि त्रिपाठी

7. महान संत श्रीमंत शंकरदेव और असम की सत्र परंपरा..23
वीरेन्द्र परमार

8. असम के जनसमुदाय पर श्रीमंत शंकरदेव का प्रभाव..25
अखिल चन्द्र कलिता

9. भारतीय सांस्कृतिक एकात्मता के सेतु पुरुष : श्रीमंत शंकरदेव 27
विभव भूषण त्रिपाठी

10. श्रीमंत शंकरदेव और मुखौटा कला..............30
आदित्य कुमार मिश्र

11. श्रीमंत शंकरदेव द्वारा पोषित मूल्यों में व्याप्त लोकतंत्र..33
वैभव सिंह

12. श्रीमंत शंकरदेव और गुरु जम्भेश्वर की वाणी का सामाजिक सरोकार....................................35
रवि कुमार

13. नववैष्णव धर्म और श्रीमंत शंकरदेव............38
पुरबी कलिता

14. श्रीमंत शंकरदेव की नाट्य-कला................41
मणि कुमार

15. भारतीयता एवं सामाजिक समरसता के अग्रदूत : श्रीमंत शंकरदेव..44
डॉ. सुनील कुमार शॉ

संपादकीय

हमारा बौद्धिक दायित्व है कि हम देश के विभिन्न प्रांतों एवं उनमें बोली जाने वाली भाषाओं और मान्यताओं में निहित भारतीय सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक एकता के मूल्यों से संवाद करें, जो भारतभाव के हेतु हैं। इस उद्देश्य से भक्ति आंदोलन से बहुत कुछ सीखा जा सकता है क्योंकि भक्ति आंदोलन एक अखिल भारतीय स्वरूप ग्रहण करता है, जिसमें देश में पहली बार प्रांत भेद, जाति भेद, भाषा भेद, संप्रदाय भेद आदि से ऊपर उठकर राष्ट्रीय एकता, बंधुत्व और मानवता की बात की गई है। सभी संतों और भक्तों के चिंतन में अखंड भारत की सोच है, सांस्कृतिक एकता की भावना है। आज हम पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण चतुर्दिक भारत भाव को जीते हैं तो वह संतों और भक्तों का योगदान है।

भारतीय दार्शनिक बोध में जीवन एक यात्रा है। हमारे दार्शनिक मूल्य जीवन को यात्रा के रूप में मानते हैं। भारतीय ज्ञान की वाचिक परंपरा यात्रा संस्कार से पुष्ट होती है। यही कारण है कि भक्तिकालीन संतों एवं भक्तों में यात्रा संस्कार का एक सर्वमान्य तत्व मिलेगा। श्रीमंत शंकरदेव जी प्रमाण हैं। यह अंक श्रीमंत शंकरदेव पर केंद्रित है। श्रीमंत शंकरदेव का भाव बोध और भाषा बोध दोनों ही यात्राबोध से निर्मित है। उनकी भक्ति भावना का केंद्र भगवान कृष्ण ही हैं, यद्यपि उन्होंने भगवान राम को लेकर भी नाटक लिखे हैं। उन्होंने अपने जीवन काल में संपूर्ण भारत का भ्रमण किया था। इसके द्वारा उन्होंने संपूर्ण भारत को जोड़ने का प्रयास किया।

पन्द्रहवीं शताब्दी के ये महान संत असम सहित संपूर्ण पूर्वोत्तर के समाज, साहित्य और जीवन बोध के केंद्र में हैं। श्रीमंत शंकरदेव की रचनात्मकता ब्रजभाषा के राष्ट्रीय स्वरूप का प्रमाण हैं। प्राग्ज्योतिषपुर में वैष्णव आंदोलन ब्रजबुलि में संभव होता है। ब्रजबुलि ब्रजभाषा, असमिया, मैथिली, संस्कृत और बांग्ला का सम्मिलित रूप है। असमिया के मध्यकालीन साहित्य के मर्मज्ञ कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' जी ब्रजबुली को शौरसेनी से ही विकसित मानते हैं। इसी अर्थ में यह हिंदी का एक रूप ठहरती है। भारतवर्ष श्रीमंत शंकरदेव जी की रचनाधर्मिता के केंद्र में है। यही वह बिंदु है, जहाँ से मैं प्राग्ज्योतिषपुर और हिंदी के रिश्तों को समझता हूँ। आपको ज्ञात है कि हमारे सांस्कृतिक जीवन का प्राग्ज्योतिषपुर विश्वविद्यालयों के जीवन में उपेक्षित ही रहा, किन्तु विश्वविद्यालय विश्व नहीं है।

श्रीमंत शंकरदेव जी ने भारतभूमि को जम्बूद्वीप, मध्यत भारत श्रेष्ठतर कहा है, यानी जम्बूद्वीप में भारतभूमि श्रेष्ठ है। यह श्रेष्ठता का बोध जिस भाषा संस्कार से बनता है- भक्ति उसी का प्रतिनिधित्व करती है। श्रीमंत शंकरदेव के आराध्य यूँ तो लीला स्वरुप कृष्ण हैं, किंतु वे राम विजय नाटक भी लिखते हैं। 'कीर्तनघोषा' में उनका पद है-

''गुण नाम जत विष्णु शिवर
ताक भिन्न बुद्धि करे जिये नर।
नामर सियो महा अपराधी,
नरकत परै दैवे नवाधि।''

यानी जो गुण-नाम में भेदभाव बरतता है। वह हरि नाम का अपराधी है। 'कीर्तनघोषा' में ही श्रीमंत शंकरदेव जी का एक पद दृष्टव्य है-

''जानिया सवे एरा भास-भूस।
भाग्ये से भारते भैला मानुष।''

श्रीमंत शंकरदेव जी ने माधव कंदली रचित असमिया रामायण के उत्तरकाण्ड की रचना की और महापुरुष माधवदेव जी ने आदिकांड की। माधव कंदली जी श्रीमंत शंकरदेव जी के गुरु थे। माधव कंदली जी की रामायण वाल्मीकि रामायण पर आधारित है। श्रीमंत शंकरदेव और माधवदेव जी द्वारा रचित बरगीतों से प्रेरणा लेकर श्रीराम आता, रामानंद द्विज, रामचरण ठाकुर, दैत्यारि ठाकुर आदि अनेक वैष्णव भक्तों और शिष्यों ने आध्यात्मिक गीतों की रचना की।

प्राग्ज्योतिषपुर के प्रायः सभी वनवासी समुदायों में राम, कृष्ण और अन्य सांस्कृतिक प्रतीकों की उपस्थिति को पढ़ा जा सकता है। असम की कार्बी-आबलांग जनजाति द्वारा रामकथा का साबिन आलून रामायण के रूप में गायन, खाम्ती जनजाति का खाम्ती रामायण, असमिया का माधव कन्दली रामायण, शंकरदेव, माधवदेव, बदला पद्माता की रचनात्मकता ऐसे ही चिह्न हैं जहाँ भारत की सांस्कृतिक राष्ट्रीयता को पढ़ सकते हैं। कार्बी आबलांग जनजाति में रामकथा के गायन की परंपरा है। कार्बी लोग मूलतः वनवासी हैं और ये मध्य असम में कार्बी आबलांग क्षेत्र में रहते हैं। इनके उद्भव के संदर्भ में जो भी तर्क हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु, दुर्गा, इंद्र के प्रतीकों के इर्द-गिर्द हैं। इनके रीति-रिवाज भी सनातन परंपरा के अनुसार ही हैं। मृत्यु के उपरांत श्राद्ध की परंपरा है, जिसे चमांकान कहते हैं। ये तुलसी की पूजा करते हैं। इनके यहाँ रामकथा के गायन की वाचिक परंपरा रही है। इसे छाबिन आलुन रामायण कहा जाता है। पुरोहित उत्सवों के अवसर पर इस कथा का गायन करते रहे हैं।

चाहे वर्तमान की असम की कार्बी जनजाति हो या त्रिपुरा की जमातिया, इनका मूल्यबोध भक्ति आंदोलन के सूत्रों का मूल्यबोध है। राम और कृष्ण यहाँ भी नायक हैं। कृष्ण रास और राम का नायकत्व यहाँ भी प्रेरणा का कारण है। इसी प्रेरणा से 'प्राग्ज्योतिका' पत्रिका का दूसरा अंक प्राग्ज्योतिषपुर के महान संत श्रीमंत शंकरदेव पर केंद्रित है। इस अंक में माननीय डॉ. कृष्णगोपाल जी, प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय, बापचन्द महंत, प्रो. दिनेश चौबे, डॉ. वीरेंद्र परमार सहित कई विद्वानों और शोधार्थियों के लेख शामिल हैं।

'प्राग्ज्योतिका' के प्रवेशांक को जो सम्मान प्राप्त हुआ, उससे आह्लादित हूँ। इसके दूसरे अंक का वैशिष्ट्य इसी बात में है कि मध्यकाल में 'सदा सर्वदा भारतवर्ष' की बात करने वाले श्रीमंत शंकरदेव जी की काव्य-संपदा, कला-वैभव, नृत्य, संगीत, मुखौटा कला, भाओना और अंकिया नाट से पाठकों का परिचय हो सके। श्रीमंत शंकरदेव जी पर केंद्रित 'प्राग्ज्योतिका' का यह अंक विजय यादव, आदित्य मिश्रा जैसे शुभचिंतकों के परिश्रम का परिणाम है। ❖❖❖

सभी का आभार।
सादर
प्रो. चंदन कुमार

प्राग्ज्योतिष क्षेत्र की समरसता के उन्नायक : श्रीमंत शंकरदेव

डॉ. कृष्ण गोपाल

उत्तर-पूर्वांचल का प्राचीन नाम प्राग्ज्योतिष है। भगवान शिव, वशिष्ठ, राम, परशुराम, कृष्ण एवं पांडवों आदि के जीवन प्रसंगों को अपने में समेटे यह क्षेत्र अपनी विविधताओं के लिए प्रसिद्ध है। सैकड़ों जनजातियों, अनेक भाषाओं तथा विविध परंपराओं वाले समूहों को एक सूत्र में आबद्ध करने का कार्य भक्तों एवं संतों ने कुशलता से यहाँ पर किया है।

पंद्रहवीं शताब्दी में, कृष्ण भक्त श्रीमंत शंकरदेव एक प्रतिभावान अवतारी पुरुष के रूप में असम में प्रकट हुए। इन्होंने जातिगत भेदभाव, बाह्य आडंबर एवं पूजा-पाठ के अनावश्यक अतिरेक को समाप्त कर दिया। श्रीमद्‌भागवत को आधार मानकर निर्मल कृष्ण भक्ति का संदेश दिया। भक्ति के आधार पर विकसित हुए सामाजिक ऐक्य के इस विलक्षण आंदोलन को इनके शिष्य, भक्त माधवदेव एवं दामोदरदेव ने कुशलता के साथ आगे बढ़ाया। देखते-ही-देखते हजारों नामघरों के विकास के साथ ही भगवान श्रीकृष्ण की जय-जयकार गाँव-गाँव में होने लगी। अस्पृश्यता एवं पिछड़ी कही जाने वाली अनेक जातियों को निर्मल कृष्ण भक्ति ने बराबर का अधिकार देकर एक अनोखा युग ही प्रारंभ कर दिया। सामाजिक अस्पृश्यता की अवधारणा यहाँ समाप्त हो गई।

सोलहवीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु के भक्त, सगुण भक्ति के पावन संदेश को लेकर असम, मणिपुर एवं नगा भूमि की पहाड़ियों में आ पहुँचे। वैष्णव-भक्ति के उस सगुण रूप को लाखों लोगों ने हृदय से स्वीकार कर लिया। घर-घर में वृंदावन और कृष्ण मंदिर बन गए थे। मणिपुर जैसे दूरस्थ कहे जाने वाले पर्वतीय क्षेत्र में सामाजिक समरसता का यह एक सुंदर अध्याय था। अब वहाँ अस्पृश्य या शूद्र नाम से निम्न समझा जाने वाला कोई समाज नहीं था। श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों के पास एक मूलमंत्र था-

''जेई भजे सेई बडो, अभकत हीनछार।
कृष्ण भजने नहीं जाति कुल विचार।।''

उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तर-पूर्वांचल के सभी क्षेत्रों में वहाँ के धार्मिक एवं सांस्कृतिक भाव वाले लोग खड़े होते गये, जिन्होंने स्थानीय संस्कृति और परंपराओं की रक्षा हेतु संघर्ष किया तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत को देश के अंग के रूप में ही देखा। इन महापुरुषों के संदेश में सभी मनुष्यों की समानता पर बल दिया गया था। इनमें असम के श्री शंभुधन फग्लो, मेघालय के श्री तीरोत सिंह एवं जीवन राय, मणिपुर की रानी गाईदिन्ल्यू, नागा राज्य के जादोनांग तथा अरुणाचल प्रदेश की ही तालोग रूकबों एवं त्रिपुरा के स्वामी स्वरूपानंद आदि के नाम स्मरणीय हैं।

प्राग्ज्योतिष क्षेत्र की समरसता के उन्नायक के रूप में श्रीमंत शंकरदेव का नाम अग्रगण्य है। जब-जब देश के विविध क्षेत्रों में भारतीय समाज के सम्मुख दिशाहीनता की स्थिति पैदा हुई तब-तब उन स्थानों पर ऐसी विलक्षण विभूतियां अवतरित होती रहीं, जिन्होंने वहाँ के समाज को युगानुकूल नई दृष्टि प्रदान की और समाज को पुनः नवप्रेरणा से भर दिया। ई. पंद्रहवी शताब्दी के ऐसे ही युगद्रष्टा एवं युग पुरुष थे असम क्षेत्र के श्रीमंत शंकरदेव।

श्रीमंत शंकरदेव का जन्म सन् 1449 ई. में असम क्षेत्र के नगाँव जिले में हुआ था। कायस्थ (भुइयां) कुलभूषण श्री शंकरदेव के पूर्व-परिवारीजन लगभग सौ वर्ष पूर्व कन्नौज से यहाँ आकर निवास करने लगे थे। लगभग बत्तीस वर्ष की आयु में श्री शंकरदेव देश भ्रमण के लिये निकल गये। अनेक स्थानों पर धार्मिक एवं आध्यात्मिक महापुरुषों से चर्चा-वार्ता करते हुए श्री शंकरदेव ने बारह वर्षों तक तीर्थ भ्रमण किया।

असमिया समाज के लिए आध्यात्मिक गुरु महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव ने यहाँ की संस्कृति, कला, आध्यात्मिक दर्शन, साहित्य एवं आर्थिक आदि अनेक क्षेत्रों में असमिया समाज का कुशल मार्गदर्शन किया। कर्म के नाम पर सर्वत्र फैले ढोंग, आडंबर, पूजा-पाठ कर्मकांड आदि से त्रस्त समाज को उन्होंने नई दिशा प्रदान की। समाज में फैली अनेक भ्रांतियों को उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी एवं शास्त्र-शुद्ध चिंतनधारा से भक्ति के नव प्रवाह में परिवर्तित कर दिया।

पटियाला विश्वविद्यालय की पूर्व उपकुलपति (सन् 1975-1977) श्रीमती इंद्रजीत कौर संधु लिखती हैं- ''श्री शंकरदेव असम के महान विभूतिसंत, उच्चकोटि के कवि, नाटककार एवं समाज-सुधारक हुए हैं। कहा जाता है कि वे बाल्यकाल से ही आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे। शैशवावस्था में ही उनके माता-पिता के देहांत ने उनकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति को और भी दृढ़ बना दिया। उनकी यह प्रवृत्ति केवल अंतर्मुखी ही नहीं रही, वरन् बहिर्मुखी हुई और समाज के प्रति प्रेरणास्रोत बनी। तत्कालीन समाज जाति-पाँति, अस्पृश्यता, अंधविश्वास आदि भ्रामक रोगों से ग्रसित था। धर्म के नाम पर कई प्रकार के अत्याचार किए जा रहे थे। कुत्सित वातावरण के कुंठित समाज के त्राण के लिए शंकरदेव ने समाज में फैले धार्मिक दंभों और अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने वर्ण-भेद और छुआ छूत का स्पष्ट शब्दों में खंडन किया तथा बहुदेववाद और मूर्तिपूजा का विरोध किया। उन्होंने बताया कि ईश्वर के दरवाजे सभी मनुष्यों के लिए खुले हैं। वे भक्तिमार्ग के प्रवर्तक थे और एकेश्वरवाद के समर्थक। उन्होंने एक नए मत का प्रचार किया जिसे 'एक शरण नाम धर्म' कहा जाता है। इस मत का मूलमंत्र है।

''एक देव एक सेव, एक बिना नाई केव।
नहि भकतित जात आचार विचार।।''[1]

अर्थात 'एक ही ईश्वर की सेवा करो। इसके अलावा कोई और नहीं है। भक्ति में जाति का कोई विचार नहीं होता।'

श्री शंकरदेव सन् 1493 ई. में भारत दर्शन के बाद असम वापस आए, तब असम में पुजारियों तथा तांत्रिकों का बोल बाला था। बलि प्रथा, कर्मकांड, तंत्र-मंत्र आदि के प्रचलन के कारण सारी जनता त्रस्त थी। अनेक मत अपनी अनेक विकृतियों के साथ चरम स्थिति में थे। तांत्रिकों का केंद्र कामरूप-कामाख्या बन गया था। श्रद्धा पिंडदान जैसे कर्मकांडों में सामान्य जनता को खुलकर लूटा जाता था। श्री शंकरदेव ने इन कर्मकांडों को अस्वीकार किया। इस कारण उन्हें राजन्य वर्ग एवं पोंगापंथियों, कर्मकांडियों आदि

का कोपभाजन भी बनना पड़ा। श्री शंकरदेव ने 'एक शरण नाम धर्म' का प्रचार किया और कृष्ण के प्रति भक्ति करने का आग्रह किया। उनका मानना है कि राम, हरि, वासुदेव, जनार्दन आदि हजारों नाम उसी कृष्ण के हैं। इसके अलावा अन्य देवी-देवताओं तथा पूजा-पद्धतियों को उन्होंने त्याग दिया। पूजा के स्थान पर नाम संकीर्तन का प्रचलन किया। श्री शंकरदेव ने असम में वैष्णव भक्ति को नया परिवर्तित शुद्ध स्वरूप देने का प्रयास किया। उन्होंने मूर्ति पूजा को स्वीकार नहीं किया, किंतु वे उसके खंडन के प्रयास में भी नहीं लगे। उन्होंने चार आधार बातों को मान्य किया-गुरु, देव, नाम और भक्त। 'श्रीमद्भागवत' को अपने धार्मिक विचार का आधार माना तथा भक्ति का प्रचार करते हुए दास्य भक्ति को मान्य किया। 'श्रीमद्भागवत' का सिद्धांत है कि सभी प्राणियों में एक ही ब्रह्म-ईश्वर-आत्मा के दर्शन करें। श्री शंकरदेव कहते हैं।

''कुकुर, चांडाल, गर्दभरो आत्मा राम।
जानीया सबाको परि करिबा प्रणाम।''[2]

अर्थात कुत्ता, चांडाल, गधा सभी के अंदर एक ही आत्मा है, वही राम है। इसको जानकर सभी को प्रणाम करो। गोस्वामी तुलसीदास भी यही कहते हैं-

''सीयाराम मय सब जग-जानी
करऊं प्रणाम जोरि जुग पानी।।''

श्रीकृष्ण ने भी गीता में यही दोहराया-'आत्मवत सर्वभूतेषु।'

श्रीमंत शंकरदेव ने जातिगत भेदभाव को कहीं कोई स्थान नहीं दिया। उनके अनुयायियों में प्रमुख श्री माधवदेव (कायस्थ), श्री दामोदर देव (ब्राह्मण), श्रीगोविंद (गारो) पूर्णानंद (कैवर्त), हरिदास (सुनार), रमाई (बोडो), श्री जयराम (भूटिया), श्री परमानंद (मिशिंग), श्री नरहरि (अहोम), श्री मुरारी तथा श्री चिलारी (कोच), श्री चांद खान (मुस्लिम) थे। श्री शंकरदेव के शिष्यों के माध्यम से अनेक जनजातियों के लाखों लोग वैष्णव-मत के अनुयायी बन गए। ये सभी शंकरदेव की शरण में आकर हरिभक्ति में लीन हो गए। श्री शंकरदेव कहते हैं कि ईश्वर भक्ति का सबको अधिकार है और इसके द्वार सभी के लिए खुले हुए हैं।

''किरात कछारी खासी गारो मिरि
यवन कंक गोवाल
असम मुलुक रजक(धोबाजे) तुरूक,
कोवाच म्लेच्छ चांडाल।।
आनो पानी पर कृष्ण सेवक
भकति लभिया संसार तरिया
बैंकुठ सुखेइ चलय।। ''[3]

अर्थात किरात, कछारी, खासी, गारो मिरी, यवन कंक, ग्वाल, असम, मुलुक, रजक, तुर्क कोवाच (कोच), म्लेच्छ, चांडाल आदि जिन लोगों को समाज में नीच या दलित माना जाता है, वे भी कृष्ण-सेवक की संगति से पवित्र हो जाते हैं। वे भी भगवद्भक्ति प्राप्त कर इस संसार से तर कर आनंद से बैकुंठ गमन करते हैं। जाति-वर्ण आदि सभी भेदभावों से दूर श्रीमंत शंकरदेव ने सभी वर्ग के लोगों के लिए नामघरों में आकर हरिस्मरण करने की पद्धति विकसित की। उनके प्रयासों से ही ग्राम-ग्राम में बने नामघरों में वहाँ के सभी लोग एक साथ मिलकर कीर्तन करने लगे। श्री शंकरदेव कहते हैं-

''कृष्ण कथात यिटो रसिक।
ब्राह्मण जन्म तार लागे किक।।
स्मरोक मात्र हरि दिने-राति।
न बाछे भकति जाति-अजाति।।''[4]

अर्थात जो श्रीकृष्ण-कथा के श्रवण तथा कीर्तन का रसिक है। भला उसे ब्राह्मण जीवन किसलिए चाहिए। उसे तो दिन-रात केवल हरि का स्मरण करना चाहिए और समझना चाहिए कि भगवान की भक्ति जाति-अजाति का कोई विचार नहीं करती।

कुछ लोगों के मन में यह भ्रांत धारणा बैठी थी कि चांडालों के साथ मिलकर तथाकथित उच्चवर्ग के लोगों को हरि-कीर्तन नहीं करना चाहिए, इससे उनकी जाति भ्रष्ट हो जाती है। श्री शंकरदेव ने ऐसी सभी मान्यताओं को चुनौती दी तथा कहा-

''चांडाले करिछे हरि कीर्तन।
बुलिया निदै यिटो अज्ञ-जन।।
ताक संभाषण यिजने करै।
आजन्म पुण्य तेखने हरै।।
विष्णु गुण-नामं अलंकृत।
आंत्यजो यिबा करि आछे गीत।।
ताक निंदा करै यिटो कुमति।
पुण्यक नाशि याय अधोगति।।''[5]

अर्थात चांडाल भी हरि कीर्तन कर रहा है। ऐसा कहकर जो अज्ञ-जन निंदा करता है। (वह ऐसा पापी है, जिसके कारण) उससे जो भी बातचीत करता है, उसके जीवन-भर के पुण्य तत्काल नष्ट हो जाते हैं। भगवान विष्णु के गुण नाम से अलंकृत-मंडित जो गीत अंत्यज भी गायन कर रहा है, उसकी निंदा जो दुर्मति करता है, उसके सारे पुण्य नष्ट हो जाते हैं अंत में वह अधोगति को प्राप्त करता है। डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' कहते हैं कि ''शंकरदेव द्वारा प्रचारित नवीन मत जाति-वर्ण आदि से ऊपर उठकर समता के सिद्धान्त पर आधारित था। उनकी घोषणा थी-''चांडाल पर्यत कर हरि-भक्ति अधिकारी।''[6]

श्री शंकरदेव कहते हैं कि सभी जीवों में आत्मा है तथा सभी को भगवान विष्णु का रूप मानकर उनके प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। उनके वाचर से समदृष्टि रखने वाला ही यथार्थ में पंडित हैं।

''ब्राहम्ण चांडाल निबिचारि कुल।
दातात चोरत जार एकदृष्टि तुल।।
नीचत साधुत यार भैल एक ज्ञान।
ताहाके से पंडित बुलिय सर्वज्ञान।।''[7]

अर्थात जो ब्राह्मण या चांडाल के अनुकूल विचार नहीं करता (दोनों को मनुष्य समझता है दाता या चोर में जिसकी दृष्टि एक समान होती है, नीच या साधु में जिसका ज्ञान एक जैसा होता है, उसे ही सर्वज्ञ पंडित कहना चाहिए।

अनेक स्थानों पर मुसलमान भी उनके शिष्य बने। श्री शंकरदेव जानते थे कि काशी में स्वामी रामानंद ने भी मुसलमानों को वैष्णव बनने की शिक्षा दी है-म्लेच्छास्ते वैष्णवाष्वारसन् रामानंद प्रभावतः। स्वामी रामानंद ने तो मुसलमानों को स्वेच्छा से वैष्णव बनने के लिए 'राम तारक मंत्र' दिया था। श्री शंकरदेव उस बात से प्रभावित हुए होंगे और उन्होंने भी असम क्षेत्र में इच्छुक मुसलमानों को भगवतशरण में लाने की परंपरा प्रारंभ की थी।

शंकरदेव जी ने नामघरों तथा सत्रों की स्थापना की, मंहगे तथा खर्चीले मंदिर बनाने के स्थान पर गाँव के लोगों की सहायता से भी बिना दीवार का, बांस के सहारे, फूस आदि से छाया हुआ नामघर ही ग्राम की सभी धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र बन गया। इस नामघर में किसी मूर्ति की स्थापना नहीं थी। गाँव

की सभी जातियों के स्त्री-पुरुष मिलकर इन नामघरों में भजन-कीर्तन आदि करते थे। ऐसे हजारों नामघर आज भी असम में, लोक संस्कार के कार्य में रत् हैं। उन्होंने भक्त की तरह जीवन यापन करने वाले व्यक्ति को सत्राधिकारी बनाने का चलन चलाया। सत्राधिकारी सरल, कर्मठ, जीवन जीते हैं तथा सभी जातियों से आते हैं। स्थानीय भाषा में ग्रंथ लेखन की परंपरा श्रीमंत शंकरदेव की देन है, उन्होंने रामायण तथा 'भागवत-पुराण' का स्थानीय (असमिया) भाषा में अनुवाद करके प्रचार किया। धार्मिक कथानकों पर आधारित स्थानीय भाषा में नाटक लेखन तथा मंचन का कार्य भी श्री शंकरदेव ने किया। उनके द्वारा विरचित साहित्य में-भागवत (अनुवाद), रामायण, उत्तरकांड (अनुवाद), 'बरगीत', 'कीर्तन घोषा', 'हरिश्चंद्र उपाख्यान', 'कालिय दमन', 'रुक्मिणीहरण', 'पारिजात हरण', 'राम विजय' आदि प्रमुख हैं। श्री शंकरदेव ने संस्कृत में पांच सौ चौंसठ श्लोकों क ग्रंथ 'भक्ति रत्नाकर' भी संकलित किया। इस ग्रंथ को लिखने में उन्होंने बीस ग्रंथों का सहारा लिया।

श्री शंकरदेव ने यह विचार किया था कि भगवद्भक्ति की भावभूमि पर सभी को एक साथ 'वेद' मार्ग पर लाया जा सकता, इसका माध्यम स्थानीय भाषा ही हो सकती है, इस कारण उन्हें 'भागवत' तथा 'पुराणों' के प्रसंगों की रचना लोकभाषा में गायन शैली के आधार पर कीर्तन-पदों के रूप में की। भारतवर्ष के प्रति अत्यंत श्रद्धा का भाव प्रकट करते हुए श्रीमंत शंकरदेव कहते हैं-

''कोटि कोटि जन्म अंतरे जाहार आसे महापुन्य राशि।
सिषि कदाचित मनुष्य होवय
भारतवरिषे आसि।।''[8]

अर्थात जिन लोगों का करोड़ों जन्म का महान पुण्य-योग्य होता है, वे ही कदाचित भारतवर्ष की पुण्यभूमि पर जन्म लेने का भाग्य पाते हैं। श्रीमंत शंकरदेव के प्रयासों के फलस्वरूप विकसित असम के आध्यात्मिक, सामाजिक, स्वरूप को देखकर महात्मा गांधी अत्यधिक प्रभावित हुए और उनके मुँह से अनायास ही निकल पडाः "Assam, indeed, is fortunate, for Shankardev has, five centuries back, given to Assamese people an ideal of which is my ideal of Ram Rajya."[9]

श्री जे.पी. राजखोवा ने अपनी पुस्तक में सत्य ही लिखा हैः ''He (Shankardev) gave to Assam a new discipline of faith in a single divinity, and helped Assam to break away with a post with its complicated esoteric doctrines and unmeaning practices and gave to the people something simple and straightforward, divested of all questionable associations or implication. He was the greatest builder of Assam by bringing in purer spiritual life and although circumstances prevented his influences from being spread into other parts of India, as a religious leader he is unquestionably on of the fretted India has produced, and he deserved to be mentioned with Shankaracharya, Nujacharya, Nasavappa, Ramanand, Kabir, Chaitanya, Mira Bai, Guru Nanak and Tulsidas. He was truly the medium through whom the spiritual light of Medieval India as a whole upon the Life of Assam.''[10]

श्री राजखोवा के अनुसार श्रीमंत शंकरदेव हरिभक्तों के लिए कल्पवृक्ष की तरह हैं। वे ही हमारे परम गुरु हैं- उनके अतिरिक्त हमारा कोई और गुरु नहीं हैं, नहीं हैं, नहीं हैं।

श्री कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' लिखते हैं, श्रीमंत शंकरदेव दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाकर चलने वाले भक्त कवि थे। वे अनुभूतिमार्गी थे। उनकी प्रज्ञा पैनी और प्रतिभा प्रदीप्त थी। उनके मस्तिष्क में यह स्पष्ट कल्पना थी कि समाज की दो अवस्थाएं ही संभव हैं- भक्त और विभक्त। विभक्ति चाहे धार्मिक हो या आध्यात्मिक, सामाजिक हो या सांस्कृतिक, आर्थिक हो या राजनीतिक-शांति सुख और विकास की दृष्टि से बाधक है। उनकी भक्ति निषेधात्मक क्रांति नहीं, विधायक धर्म है। उसमें निषेध की अपेक्षा विधि के तत्व अधिक हैं। उनकी कविता का मूलस्वर मानवतावादी है। 'एको छिद्र न धरंत हरि... चांडाल पर्यत करि हरि-भक्ति अधिकारी... शत्रु-मित्र उदासीनों सबातों समान' आदि उक्तियां, उनकी ईश्वर कल्पना को साम्यभाव (अर्थात समभाव) तक ले जाती हैं। इनमें उनका मानव प्रेम ही छलकता दिखाई देता है। मानव-मानव में साम्य-भाव की यह व्यवस्था 'कृणवंतो विशस्वमार्यम' का ही समसामयिक उद्घोष है।''[11]

श्रीमंत शंकरदेव की दीर्घकालीन साधना के फलस्वरूप ही आज असम में हजारों नामघरों के माध्यम से वैष्णव भक्ति, सामाजिक समरसता, संकीतर्न, कला, संगीत, आर्थिक स्वावलंबन आदि का व्यापक तथा अनुकरणीय प्रचार और विस्तार हुआ है।

संदर्भ-

1. शंकरदेव साहित्य और विचार, डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', पंजाब यूनिवर्सिटी, पटियाला-1976
2. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव, नवारूण वर्मा, वृहत्तर फैंसी बाजार साहित्य सभा, गुवाहाटी-781001, पृ. 58
3. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव, नवारूण वर्मा, वृहत्तर फैंसी बाजार साहित्य सभा, गुवाहाटी-781001, पृ. 49
4. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव, नवारूण वर्मा, वृहत्तर फैंसी बाजार साहित्य सभा, गुवाहाटी-781001, पृ. 48
5. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव, नवारूण वर्मा, वृहत्तर फैंसी बाजार साहित्य सभा, गुवाहाटी-781001, पृ. 50
6. शंकरदेव साहित्य और विचार, डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', पंजाब यूनिवर्सिटी, पटियाला-9976 पृ.12
7. श्रीमंत शंकरदेवः व्यक्तित्व और कृतित्वः डॉ. भूपेन राय चौधरी, श्रीमंत शंकर संघ ददरा दलिबारी, गुवाहाटी-781014, पृ.108
8. कीर्तन घोषा, अजय कुमार दत्त, स्टूडेंट स्टोर्स, कालेज होसट रोड, गुवाहाटी-781001, 2002 अजामिल उपाख्यान कीर्ति, पृ. 4, पद-41
9. शंकरदेव साहित्य और विचार, डॉ कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', पंजाब यूनिवर्सिटी, पटियाला-1976, पृ. 219
10. Shankerdev : His life, preaching & practices, J.P. Rajkhowa, Narikel Basti, Narangi Rd. Guwahati-781024, 2003 p.2.
11. शंकरदेव साहित्य और विचार, डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', पंजाब यूनिवर्सिटी, पटियाला-1976 पृ.सं. 464-471.

❖❖❖

शंकरदेव की जीवनी

बापचन्द्र महंत

दैत्यारी, भूषण, रामानंद द्विज और रामचरण इन चार व्यक्तियों ने शंकरदेव के जीवन चरित छंदबद्ध भाषा में लिखे। 'कथा गुरु चरित' नामक एक गद्य चरित ग्रंथ भी है, प्रचलित परंपरा के आधार पर शायद इन पुस्तकों के लिखने के बाद ही लिखा गया हो। ऐतिहासिक दृष्टि से दैत्यारी ठाकुर और भूषण द्विज के द्वारा लिखित चरित ग्रंथ अधिक प्रमाणिक माना जा सकता है। दैत्यारी ठाकुर शंकरदेव के प्रमुख शिष्य माधवदेव के भांजे रामचरण ठाकुर का पुत्र था। शंकरदेव जी के देहांत के करीब पचास वर्ष बाद दैत्यारी ने अपना ग्रंथ लिखा। दूसरा चरितकार भूषण द्विज शंकरदेव जी के पुत्र पुरुषोत्तम ठाकुर के पुरोहित थे। इसीलिए इन दोनों चरित ग्रंथों से दो संप्रदायों का भी प्रतिनिधित्व होता है।

वंश परंपरा : शंकरदेव जी जाति के कायस्थ थे। उनके पूर्व पुरुष भुञा (भूमि के अधिकारी) नाम से प्रसिद्ध छोटे छोटे राजवंश के लोग थे। 13वीं सदी में ब्रह्मपुत्र नदी के दोनों किनारे भुञाओं के छोटे राज्य थे। शासक भुञा नाम से परिचित थे। बाद में भुञा स्वतंत्र न रहकर सामंत बने। शंकरदेव के पूर्वज भुञाओं में प्रमुख होने के कारण शिरोमणि भुञा कहलाते थे। शंकरदेव ने अपने काव्य रुक्मिणी हरण में अपने वंश का परिचय इस प्रकार दिया, राज्य के राजा दुर्लभ नारायण के समय में (पश्चिमी असम में तेरहवीं सदी में कामता राज्य था) देवीदास ने बरदोबा नामक गाँव बसाया। देवीदास कामता राज दुर्लभ नारायण का प्रिय पात्र था। देवीदास का पुत्र राजधर, राजधर का पुत्र सूर्यवर, सूर्यवर का पुत्र कुसम्बर और कुसुम्बर का पुत्र शंकर हुआ। शंकरदेव के समय तक अधिकांश भुञा शक्ति के उपासक थे।

जन्म काल: शंकरदेव जी की जन्मतिथि और वर्ष के संबंध में विद्वान लोग आज तक संपूर्ण एकमत न हो सके। प्रामाणिक चरित ग्रंथों में जन्म शक और तिथि का उल्लेख नहीं है। रामानंद द्विज और रामचरण ठाकुर के नाम से लेखकों के चरित्र ग्रंथों में विभिन्न तिथियों का उल्लेख है, जो परस्पर विरुद्ध होने के कारण संपूर्ण प्रामाणिक नहीं माना जाता। रामचरण ठाकुर कृत ग्रंथ में आश्विन शुक्ल दशमी विजयादशमी में शंकरदेव का जन्म बताया गया और उसी के आधार पर आजकल गाँव में उस तिथि को ही शंकरदेव का जन्म दिवस माना जाता है। पंचांगों में भी शंकराब्द का हिसाब उसी दिन से लगाया जाता है। इसका मूल कारण यही था कि चरित ग्रंथों की प्रमाणिकता के संबंध में विचार किए बिना रामचरण के नाम पर प्रचलित चरित ग्रंथों को ही अन्यान्य चरित ग्रंथों की अपेक्षा प्रमाणिक समझा जाता था। रामानंद द्विज ने फागुन अमावस्या को शंकरदेव का जन्म बताया। जो वर्तमान अश्विन शुक्ल दशमी देव के जन्मदिवस के नाम पर प्रसिद्ध हो गया। उसका खंडन करना असंभव हो गया। वह दिन लोक हृदय में शंकरदेव का जन्मदिन बन चुका। उस दिन को बीच में रखकर पांच-सात दिनों तक लोग गाँव-गाँव में शंकरदेव का जन्मोत्सव पालन करते हैं। नाम कीर्तन, सभा सम्मेलन, अभिनय होते हैं, पत्र-पत्रिकाओं में लेख छपते हैं, मेले लगते हैं। बंगाल के आदर्श पर असम में भी धूम धाम से दुर्गा की पूजा होती है। विजयादशमी के दिन दुर्गा का विसर्जन होता है। एक ही समय में शाक्तों का भी बड़ा उत्सव होता है। कुछ लोगों ने शंकरदेव के जन्मदिवस को पूजा के प्रतिद्वंदी उत्सव के रूप में माना था। पर आज कल कुछ लोग दोनों उत्सवों में समान रूप से अंश ग्रहण करने लग गए।

जन्मतिथि की भांति जन्म शक का भी सवाल रहा। राम चरण के चरित ग्रंथों में 1371 शकाब्द अनुचित-सा नहीं लगता। उसी के आधार पर शंकरदेव की आयु का हिसाब लगाया गया है। घटनाक्रम की दृष्टि से वह शकाब्द अनुचित सा नहीं लगता यदि एक-आध वर्ष का आगा पीछा हो तो विशेष हानि नहीं होगी। इसीलिए 1446 ई. को सुविधा की दृष्टि से शंकरदेव के जन्म स्थान के रूप में ग्रहण करते हैं।

तीर्थ यात्रा के पूर्व : जन्म से 12 वर्ष तक शंकरदेव ने अध्ययन नहीं किया, खेल में ही बिताया। जन्म के दो एक दिन के बाद ही मातृ वियोग हुआ। दादी ने उनका पालन पोषण किया। उनका असली नाम ज्योतिष के अनुसार गंगाधर था, पर बाहर शंकर नाम प्रचलित था। चरित ग्रंथ से पता चलता है कि जब पाठशाला में जाकर शंकर ने पढ़ना शुरू किया तब उनकी प्रतिभा ने शिक्षक को बहुत प्रभावित किया। महेंद्र कंदली नामक ब्राह्मण उनके शिक्षा गुरु थे। अध्ययन के काल में ही उनकी प्रतिभा और कुछ घटनाओं से प्रभावित होकर गुरु ने ही शंकर के साथ देव शब्द भी जोड़ दिए। गुरु की आज्ञा से साथी विद्यार्थीगण शंकरदेव कहने लगे। इससे ब्राह्मण शिक्षा गुरु की उदारता, गुणग्राहिता; शंकरदेव के वंश की सामाजिक प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत प्रतिभा का पता चलता है। कम दिनों में शंकरदेव बड़े पंडित बन चुके। अध्ययन के उपरांत उन्होंने प्राणायाम आदि योग का भी अभ्यास किया और कुछ चमत्कार भी दिखाया। उनकी साधना परंपरा में ही सामान्य भिन्नता रखकर षट्चक्र चिंतन की व्यवस्था अपनायी गई है। योगाभ्यास के कारण उनको सबल शरीर और स्वास्थ्य मिला। बरसात में ब्रह्मपुत्र नदी को तैरकर पार हुए और तैरकर ही उस तट से फिर वापस भी आए। एक बार एक सांड (जिसने लोगों को बहुत तंग किया था) को भी सींग से पकड़कर इस प्रकार धकेला कि वह छोड़ देने पर भय से दौड़कर भागा। ठीक समय पर उनका उपनयन आदि संस्कार हुआ और संध्या, वंदन तर्पण आदि शास्त्र विहित आचरण के साथ गृहस्थाश्रम में विवाहित जीवन यापन करने लगे। 'रामराम' नामक कुल पुरोहित शंकरदेव के साथी थे। करीब 40 वर्ष की उम्र होने के पहले ही उनको पितृ वियोग हुआ। हरि नामक के व्यक्ति से अपनी पुत्री का विवाह कर शंकरदेव करीब 40 वर्ष की आयु में 'रामराम

गुरु' प्रभृति साथियों को लेकर तीर्थ भ्रमण के लिए निकले। उस समय ब्राह्मण पुरोहित को गुरु संबोधन करने का रिवाज था। इसीलिए 'रामराम गुरु' शब्द का प्रयोग होता है।

तीर्थ भ्रमण : शंकरदेव जी ने दो बार तीर्थ भ्रमण किया। पहली बार का पर्यटन 12 वर्षों में पूरा हुआ। तीर्थ यात्रा के पहले ही उन्होंने वंश परंपरा से प्राप्त शिरोमणि भुञा का प्रशासनीय अधिकार अपने वंश के छोटे पितामह जयंत और माधव दलै (दलपति) को सौंपा। शास्त्रों के अध्ययन में तीर्थ यात्रा के पहले ही मन लगाते थे। अध्ययन के क्षेत्र में भी रामराम गुरु शंकरदेव के सहयोगी थे। दैत्यारी ठाकुर के मतानुसार पहली बार तीर्थ भ्रमण के समय में बहुत दिन पूरी क्षेत्र में ही रहे। भूषण ने गंगा, गया और पूरी प्रभृत्ति का नाम उल्लेख किया है। राम चरण प्रवृत्ति चरित कारों के मतानुसार शंकरदेव ने रामेश्वर सेतुबंध से बद्रिका आश्रम तक दक्षिण में और उत्तर भारत के सभी प्रमुख तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा की। शंकरदेव के आदर्श से प्रभावित मूर्ति तथा चित्र कला और संगीत तथा नाटकों की भाषा की दृष्टि से विचार किये जाएं तो ऐसा लगता है कि शंकरदेव ने उत्तर और दक्षिण भारत के बहुत अंशों में निश्चय भ्रमण किया है क्योंकि शंकरदेव से प्रभावित मूर्ति तथा चित्रकला में दक्षिण भारतीय मूर्ति और चित्रकला का प्रभाव कुछ-न-कुछ है। संगीत (बरगीत) और नाटकों में उन्होंने जिस संमिश्र भाषा का प्रयोग किया उसमें समकालीन उत्तर भारतीय भाषाओं के शब्दों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

सन् 1546 ई. के बाद शंकरदेव ने दूसरी बार तीर्थ यात्रा की। इस बार की यात्रा पहली बार की भांति बहुत लंबी नहीं थी। तब उनकी उम्र लगभग 100 वर्ष हो चुकी थी। इसीलिए पूरी क्षेत्र ही इस यात्रा का प्रमुख स्थान था। उत्तर भारत में वृंदावन तक नहीं गये। दैत्यारी और भूषण ने भी दूसरी बार की यात्रा में चैतन्यदेव से शंकरदेव की भेंट होने की बात बताई; पर उन दोनों ने विशेष आलाप आलोचना की चर्चा नहीं की।

रामानंद द्विज ने पहली बार की यात्रा में ही शंकरदेव की चैतन्य से भेंट होने की बात बताई। पर इसमें भी दोनों के बीच खास आलाप आलोचना आदि का वर्णन नहीं है। चैतन्य देव और शंकरदेव की भेंट संबंधी बातों में यह विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य है कि यदि शंकरदेव पहली बार की यात्रा के अंतिम भाग में ही चैतन्यदेव से मिले हो तो उस समय शंकरदेव की आयु करीब 52 वर्ष और चैतन्यदेव की आयु 16 वर्ष होगी। 16 वर्ष की आयु में चैतन्यदेव ने सन्यास ग्रहण नहीं किया था। शंकरदेव की दूसरी तीर्थ यात्रा के समय चैतन्यदेव जीवित ही नहीं थे क्योंकि साल 1533 में अर्थात शंकरदेव की यात्रा के कम-से-कम 13 वर्ष पहले ही चैतन्यदेव का देहांत हो गया था। अतः शंकरदेव और चैतन्यदेव के मिलन संबंधी बातों में कुछ भी महत्व नहीं। परवर्ती अन्यान्य कुछ चरित कारों ने शंकरदेव और चैतन्यदेव की मिलन संबंधी बातों को लेकर बहुत भ्रम फैलाया। चैतन देव के जीवन चरित्र में यह प्रसंग नहीं मिलता।

पहली बार तीर्थ भ्रमण के बाद : तीर्थ यात्रा से आकर शंकरदेव ने बरदोवा में ही धर्म प्रचार का कार्य शुरू किया। धर्म के आधार ग्रंथों में उन्होंने भागवत पुराण को ही अधिक अपनाया; उसमें शायद पाँचरात्र मत की व्यवस्थाओं का प्रभाव था। भागवत से नवधा भक्ति की ओर विशेषकर श्रवण कीर्तन को ही उन्होंने प्रधान साधन माना। दार्शनिक स्थल पर अद्वैतवाद को मानते हुए भी निर्गुण के स्तर तक पहुँचने के लिए सगुण भगवान की लीला का आश्रय ग्रहण करना उन्होंने अनिवार्य माना है। इसीलिए श्रीकृष्ण की लीला का श्रवण कीर्तन और श्रीकृष्ण में आप समर्पण या संग्रहण ही धर्म के प्रमुख अंग बने।

बरदोवा में कछारी नामक जनजाति के लोग बार-बार भुञाओं को तंग करते थे। इसीलिए शंकरदेव ने पहली बार तीर्थ धवन के बाद बरदोवा छोड़कर ब्रह्मपुत्र के उत्तर की दिशा में गामों नामक स्थान में रहना निश्चित किया, किंतु वहाँ भी भोटो के (भूटान के लोग) हमले के कारण शांति से रहना असंभव था। इसीलिए अपने लोगों के साथ हुए, राज्य के भीतर धुवाहाट नामक एक स्थान पर (वर्तमान शिवसागर जिले के माजुली टापू में) रहने लगे। कुछ वर्षों के बाद अहोम राज्य पर कोच राजा नर नारायण ने आक्रमण किया। बंगाल के कोच बिहार से असम के गुवाहाटी तक प्रदेश उस समय कोच राजा के शासनाधीन था।

अहोमों को कोचों से लड़ने के लिए हाथी की आवश्यकता हुई और हाथी पकड़ने के काम में अहोम शासक ने भुञाओं को भी लगाया। जंगली हाथी भुञाओं की तरफ से ही भाग निकले। इसीलिए शंकरदेव के दामाद हरि को प्राण दंड मिला। शंकरदेव के प्रमुख शिष्य माधवदेव को पकड़ा गया, परंतु अविवाहित अकेला आदमी होने के कारण प्राण दंड से उनको छुटकारा मिला। इस घटना के बाद आंखों में राज्य का वातावरण अपने लिए प्रतिकूल समझकर शंकरदेव कोच राज्य के भीतर बरपेटा के पास आकर बस गये।

आज भी बरपेटा के पास पाटवांउसी नामक स्थान पर उनके प्राचीन सत्र और उनके अन्य एक ब्राह्मण सिर्फ दामोदरदेव के पुत्र का सुंदर वातावरण नजर आता है। शंकरदेव जी पाटवांउसी से कोच राज्य की राजधानी कोच बिहार जाते समय दामोदरदेव को पाटवांउसी में प्रतिष्ठित कर गए थे।

कोच शासकों के संपर्क में : पुरानी व्यवस्था जिनके हाथों में होती है वह नई व्यवस्था के विरोधी बनते हैं, यह स्वाभाविक बात है। शंकरदेव के समय में विभिन्न देव-देवियों की जो पूजा व्यवस्था ब्राह्मणों के हाथों में थी उस पर शंकरदेव के द्वारा प्रचारित भागवत धर्म के कारण कुछ आघात पहुँचा। शंकरदेव ने सब काम-भाव से विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना का मार्ग त्याग कर केवल परम सत्ता नारायण या महापुरुष की (त्रिगुणत्मिका, प्रकृति के अतीत चेतन पुरुष की) उपासना का मार्ग पकड़ा और शिष्यों को भी वही मार्ग दिखाया। उनकी उपासना मार्ग में युगल रूप में भी शक्ति की उपासना का स्थान नहीं था। नारायण के साथ लक्ष्मी, राम के साथ सीता और कृष्ण के साथ रुक्मिणी या राधा को भी स्थान नहीं मिला। इस प्रकार केवल महापुरुष की ही उपासना की जाती है शक्ति की उपासना नहीं होती। इसलिए उनके संप्रदाय का नाम भी 'महापुरुषिया' हुआ। परवर्ती शिष्यों ने अपने गुरु को आराध्य देव से अभिन्न मानकर महापुरुष माना और महापुरुष शंकरदेव की भांति उनके शिष्य परंपरा में महापुरुष माधवदेव, महापुरुष दामोदरदेव और महापुरुष हरिदेव प्रभृत्ति परवर्ती गुरुओं के नाम के साथ महापुरुष शब्द जोड़ा गया।

इस महापुरुषीया आदर्श के प्रचार से सकाम देव-देवियों की पूजा से जीविका निर्वाह करने वाले कुछ ब्राह्मणों के स्वार्थ में बाधा पहुँची। अतः कुछ साधारण ब्राह्मणों ने (विद्वान ब्राह्मणों ने नहीं) शंकरदेव का विरोधाचरण किया। सभी भक्तों को तंग करते थे गालियां देते थे माला छीन लेते थे या राजा के पास जाकर शिकायत करते थे। अहोम राज्य में रहते समय भी ऐसा हुआ; पर शंकरदेव को दबाने में समर्थ ना हो सके। कुछ राज्य में भी ब्राह्मणों का यह विरोधाचरण प्रारंभ हुआ। ब्राह्मणों ने कोच राजा नर नारायण के पास शिकायत की कि शंकरदेव वेदाचार्य और देव-देवियों की पूजा के विरोध में प्रचार कर देश में भ्रष्टाचार फैला रहे हैं। राजा ने ऐसी शिकायत पाकर शंकरदेव को पकड़ने के लिए आदमी भेजा; किंतु उन आदमियों के द्वारा शंकरदेव पकड़े नहीं गए। नारायण ठाकुर और गोकुल चांद नामक दो शिशु को पकड़कर ले गए, किंतु बहुत सता कर भी शंकरदेव के धर्म में भ्रष्टाचार को प्रमाणित करने योग्य बातें दोनों शिष्यों के मुख से निकाल सके।

महाराज नर नारायण के भाई चिलाराय या शुक्लध्वज सेनापति भी थे और सहायक शासक भी थे। चिलाराय देवान नाम से वे परिचित थे। पुरानी पुस्तकों में शुक्ल ध्वज नृपति शब्द का भी प्रयोग मिलता है। चिलाराय ने शंकरदेव के चचेरे भाई रामराम की बेटी भुवनेश्वरी से विवाह किया था। अपनी पत्नी के जरिए चिलाराय ने शंकरदेव के महत्व को कुछ समझा था। शंकरदेव को पकड़ने के लिए जब राजा के आदमी आए थे, उस समय चिलाराय ने शंकरदेव को अपने जिम्मे पर छुपा रखा।

समकालीन गूवा शासकों के विचारालय को 'कारखाना' कहा जाता था। चिला राय ने राज्य के एक अंश में शंकरदेव को कारखाने का गोमास्ता या दलै भी बनाया था। पर शंकरदेव इस कार्य में बहुत दिन तक न रहे। बाद में जब महाराज नरनारायण को पता चला कि शंकरदेव को अपने भाई चिलाराय ने ही अपने जिम्मे पर रखा तब शंकरदेव के प्रति राजा के मन में श्रद्धा की भावना हुई और राजसभा में बुलाया राजसभा में जाने पर शंकरदेव के पंडित और आचरण से प्रभावित होकर नर नारायण ने उनका बहुत आदर करना शुरू किया, शंकरदेव के विरोधियों का मुँह बंद हुआ।

नर नारायण की सभा में जाने के बाद फिर एक बार शंकरदेव जी बरपेटा आए पर बहुत दिन न रहे। पाटवांउसी में दामोदरदेव को अपना स्थान दे दिया और संगठन कार्य के उत्तराधिकारी के रूप में महादेव को चुना फिर धर्म प्रचार के लिए भी आज्ञा दी। उसके बाद दूसरी बार शंकरदेव जी कोचबिहार चले गए और आजकल जहाँ मधुपुर सत्र है उसी स्थान पर रहने लगे। नर नारायण की सभा के बड़े-बड़े विद्वान ब्राह्मण भी शंकरदेव के आदर्श को अपनाने लगे। साल 1568 के भादो महीने की शुक्ल द्वितीया तिथि में कोच बिहार में ही शंकरदेव का देहांत हुआ। रामचरण ठाकुर के नाम से प्रचलित चरित-ग्रंथ में है कि - महाराज नर नारायण ने शंकरदेव के पास शरण ग्रहण करना चाहा किंतु शंकरदेव जी राजा, ब्राह्मण और स्त्रियों के गुरु नहीं बनते थे। इसीलिए उन्होंने राजा के गुरु न बनने की इच्छा से योग के द्वारा प्राण त्याग दिया। बहुत से लोग रामचरण के चरित की इस बात को दोहराते जाते हैं, परंतु महापुरुष या साधना मार्ग और परंपरा के अनुसार यह बात सच्ची प्रमाणित नहीं होती। दैत्यारी ठाकुर, भूषण द्विज और रामानंद द्विज ने भी राजा से छुटकारा पाने के लिए प्राण त्याग करने की बात नहीं बताई। दैत्यारी ने लिखा है कि फोड़ा निकला और ज्वर हुआ था। भूषण ने उस समय का विशेष वर्णन नहीं किया।

शंकरदेव के प्रमुख शिष्य और उनकी परंपरा : शंकरदेव जी धुँवाहाट जिस समय थे, उसी समय माधव नामक एक कायस्थ शाक्त व्यक्ति उनसे बहस करने आए थे। शास्त्र ज्ञान में वह पटु होने पर भी वह शंकरदेव के सामने ठहर ना सके। तर्क में परास्त होकर उन्होंने तत्काल ही शंकरदेव का शिष्यत्व स्वीकार किया। शरण ग्रहण के बाद माधव के जीवन की दिशा बिल्कुल बदल गई। होने वाला विवाह बंद कर दिया और अपने ही गुरु की सेवा में वे जीवन बिताने लगे। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी उन्होंने अपने गुरु के साथ-साथ कदम उठाएं। सेवा और प्रतिभा के कारण ही वे गुरु के उत्तराधिकारी बन सके। वह बाद में माधव नाम से प्रसिद्ध हुए। पाटवांउसी में रहते समय दामोदर और हरी नामक दो ब्राह्मण शंकरदेव के शिष्य बने थे। शंकरदेव के बाद पाठवांउसी में दामोदर और पाटवांउसी से 810 मील की दूरी पर 'मानेरी' नामक स्थान में हरिदेव ने धर्म प्रचार किया। बाद में दामोदरदेव और हरिदेव की परंपरा में शंकरदेव को अपने गुरु के रूप में दिखाने की वैसी व्यवस्था नहीं रही जैसी व्यवस्था माधवदेव की परंपरा में रही। बाद

के कुछ लोगों ने दामोदरदेव और हरिदेव की परंपरा को शंकरदेव की परंपरा से पृथक रूप में प्रतिपन्न करने के लिए भी कोशिश की। इस क्षेत्र में बंगाल के चैतन्य मत के समर्थकों का भी कुछ प्रभाव रहा। इतना होते हुए भी वैष्णव आंदोलन में शंकरदेव का नेतृत्व और हरिदेव तथा दामोदरदेव के ऊपर भी शंकरदेव का प्रभाव निर्विवाद स्वीकृत हुआ।

माधवदेव की परंपरा के लोगों ने अपने कार्य क्षेत्र को पश्चिमी असम के उसी क्षेत्र में सीमित नहीं रखा, जिस क्षेत्र में शंकरदेव, माधवदेव, दामोदरदेव, हरिदेव और अन्यान्य बहुत उनके अनुयायी गुरुओं ने धर्म प्रचार का कार्य किया था। वंशी गोपाल नामक एक ब्राह्मण भक्त दामोदरदेव और माधवदेव दोनों की आज्ञा से पूर्वी असम में धर्म प्रचार के लिए गए। उनके साथ और कुछ बाद में माधवदेव की आज्ञा से यदुमनी और दामोदरदेव की आज्ञा से वनमाली नामक दो ब्राह्मण भक्त चले। इनके अतिरिक्त माधवदेव की परंपरा में श्री शंकरदेव के बड़े पुत्र पुरुषोत्तम ठाकुर कनिष्ठ पुत्र चतुर्भुज ठाकुर, चतुर्भुज ठाकुर की पत्नी कनकलता आई तथा भवानीपुर के गोपाल आता ने 12-12 प्रचारक गुरु भेजें। उन गुरुओं में ब्राह्मण और कायस्थ गुरुओं की संख्या करीब-करीब समान थी। उन ब्राह्मण और कायस्थ गुरुओं ने पूर्वी असम के विभिन्न स्थानों में 'सत्र' 'प्रचार का केंद्र' की स्थापना की। उन्हीं की परंपरा आज तक चल रही है। माधवदेव की आज्ञा से पद्मआता नामक और एक कायस्थ गुरु पूर्वी असम में प्रचार के लिए गए थे। उनकी परंपरा में सत्रों की संख्या कम है।

व्यक्तित्व की झलक : असम में ऐसे किसी दूसरे व्यक्ति का जन्म अब तक नहीं हुआ जो शंकरदेव के समान जनमानस को प्रभावित कर सके। बड़े पंडितों से निरक्षर जनता तक शंकरदेव का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में है। सत्र व्यवस्था ने समाज को एक स्वावलंबी तथा गण तांत्रिक आदर्श दिया। सत्र में देवालय के साथ पुस्तकालय, विद्यालय और चिकित्सालय की भी व्यवस्था हुई। सत्र में देवालय को कीर्तन घर या नाम घर कहा जाता है। सत्र के आदर्श पर ही गाँव-गाँव में नाम घर बने, जो संगठित समाज के कार्यालय के रूप में कार्य करने लगे। किस व्यक्तित्व की साधना के द्वारा शंकरदेव को इस क्षेत्र में इतनी सफलता मिली यह बात विचार्य है। साधारण दृष्टि से देखा जाए तो उनमें निम्नोक्त व्यक्तिगत विशेषता दिखाई देती है।

योग साधना से प्राप्त अत्यंत दृढ़ स्वास्थ्य और करीब 116 वर्षों का दीर्घ जीवन। सत्ता और अर्थ का त्याग, सामंत शासकों के प्रमुख शिरोमणि भुंञा का पद छोड़ा, धर्म के साथ कला को प्रचार में और समाज को नई दिशा दिखाने में अपने जीवन को सौंपा। त्याग का अर्थ संन्यास या संसार से मुँह मोड़ना नहीं, पहली बार फिर से वापस आने के बाद शंकरदेव ने लोगों के आग्रह पर दूसरी शादी भी की। दूसरी पत्नी से उनके तीन बेटे। बड़े बेटे का नाम रामानंद ठाकुर था। रामानंद ठाकुर का बेटा पुरुषोत्तम ठाकुर परवर्ती प्रचारकों में विशिष्ट स्थान रखते थे। दूसरा बेटा कमल लोचन कम उम्र में ही मरा। तीसरा बेटा हरिचरण का पुत्र चतुर्भुज ठाकुर पुरुषोत्तम ठाकुर के बाद प्रचारक बने। शंकरदेव ने त्रयी की व्याख्या के रूप में या किसी दार्शनिक मतवाद के नाम पर अपने धर्म के आचरण और आदर्श को बांधने का प्रयास नहीं किया। भागवत पुराण की दार्शनिक दृष्टि को ही उन्होंने अपनाया। भागवत में सांख्य और वेदांत का समन्वय हुआ, इसीलिए उन्होंने अपने साधन मार्ग की व्यवस्थाएं द्वैत भावना से अद्वैत भावना की ओर आगे बढ़ने के लिए अनुकूल आचरणों के रूप में दी। भक्ति के लिए कलात्मक साधनों को इसीलिए अपनाया गया कि लोगों को कला में दर्शन भी मिलता है, किंतु साधारण लोग कला दर्शन के रूप में ग्रहण नहीं करते। शंकरदेव ने अपने साहित्य में दर्शन को छिपाकर रखा और समकालीन लोक रुचि की ओर ध्यान रखकर लोक भाषा में ही इस प्रकार साहित्य का निर्माण किया कि असमिया साहित्य के इतिहास का विचार करते समय प्राक् शंकरी युग और उत्तरी शंकरी युग के नाम से करना पड़ता है। उनके साहित्य में कला का आचरण पक्ष भी था, इसीलिए शंकरदेव के आदर्श में लिखा हुआ दूसरे लेखकों का वैष्णव साहित्य भी आधुनिक असमिया साहित्य की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय रहा।

❖❖❖

साभार

राष्ट्रवाणी, सं : गो.प.नेने। अंक 3, वर्ष 25, सितंबर 1971 (महापुरुष शंकरदेव विशेषांक, प्रथम खंड)

भक्ति आंदोलन और शंकरदेव

प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

भक्ति आंदोलन के संदर्भ में हम जिस भक्ति की बात करते हैं, वह वस्तुतः भागवत भक्ति है। भागवत धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ ही भक्ति आंदोलन का प्रारंभ हुआ। वह यह भागवत भक्ति थी जो लोकोन्मुख थी। सामान्य जन को अपने में समेट लेने की जिसमें अद्भुत क्षमता थी। जिसकी भाषा लोकोन्मुख या जन-भाषा थी। कालांतर में यह भावना केवल वैष्णव भक्ति तक सीमित नहीं रही। उसमें शैव, शाक्त के साथ बौद्ध तथा जैन भी जुड़े तथा उससे प्रभावित भी हुए। भक्ति आंदोलन (13 वीं से 16वीं शताब्दी) 400 वर्षों तक अपने चरम पर था। जिस भक्ति ने आंदोलन का स्वरूप ग्रहण किया, वस्तुतः उसकी शुरूआत दक्षिण से हुई। आलवार दक्षिण भारत के अत्यंत प्रतिष्ठित वैष्णव संत हैं। इनका समय 200 ईसवी से 900 ईसवी है। आलवारों में सरोयोगिन, महायोगिन, भूत योगिन, तथा भक्ति सार प्राचीन है। चर्चित आलवारों में शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर पेरुमाल, विष्णु चित्तम और गोदा बाद के आलवार हैं। इन सभी आलवारों का संबंध तमिल प्रदेश से है। आलवारों को विशिष्ट बतलाते हुए कहा गया है कि जो ईश्वर ज्ञान के मूल तत्व तक पहुँचा है तथा उसी के ध्यान में मग्न रहता है, वही आलवार है।

आलवारों में विभिन्न प्रकार की जातियां थीं-जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र तथा उस समय और भी निम्न कही जाने वाली जातियों के लोग थे। आलवारों की रचनाएं 'नालआयिर दिव्य प्रबंधम्' में संगृहीत हैं। इन्हें तमिल प्रदेश में वेद के समकक्ष माना गया। इनके पद्य मंदिरों, विवाह उत्सव तथा अन्य प्रसंगों में गाए जाते हैं। इनकी महिमा यह है कि यह यज्ञ और अनुष्ठान में वैदिक मंत्रों के समकक्ष उच्चरित किए जाते हैं। आलवारों ने भक्ति के क्षेत्र में जाति को नहीं माना, यही भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषता है। 'जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान' वाली पंक्ति का प्रारंभिक रूप आलवारों के यहाँ दिखता है। ''नाम्मालवार शूद्र कुल में उत्पन्न हुआ था। इसकी रचना सबसे अधिक मात्रा में उपलब्ध होती है। इसने 100 पद्यों में तिरुवृतम, सात पद्यों में तिरुवाशिरियम, 87 पद्यों में तिरुवंतादि और 1102 पदों में तिरुवायमोडि लिखे हैं। यह सदैव ध्यान में मग्न रहता था।

इसके शिष्य मधुर कवि ने इसे विष्णु का अवतार माना है। कुलशेखर राम का भक्त था। इसके मुख्य ग्रंथ का नाम पेरुमाल तिरुमोषि है। आंडाल कृष्ण की भक्त थीं और अपने को गोपी समझती थीं। देवदासी प्रथा के अनुसार वह श्रीरंगम् के देवता रंगनाथ को समर्पित की गई थीं और उन्हीं को अपना पति समझती थीं। उसके मुख्य ग्रंथ तिरुपावई और नाच्चियार तिरुभोलि हैं।''[1] अलावारों ने जिस भक्ति पद्धति का प्रचार किया उसमें अलौकिक उपलब्धियों को तुच्छ माना गया है। वह पूजा उपादानों की तुलना में भाव की प्रधानता मानी गईं। प्रभु का अनुग्रह और दास्य भाव भी इनकी भक्ति की प्रमुख विशेषता है। आलवारों के पश्चात दक्षिण भारत में भक्ति का प्रचार आचार्यों ने किया। यह आचार्य भी 'प्रबंधम' से प्रभावित हैं। इसमें प्रमुख रघुनाथाचार्य या नाथमुनि थे। आचार्यों की भक्ति में वैचारिक प्रौढ़ता प्रदान की। आलवारों की भक्ति में निश्छल हृदय की अभिव्यक्ति थी। ''इन आचार्यों के विविध ग्रंथों में मस्तिष्क-पक्ष की भी प्रौढ़ता दीख पड़ी।

इन्होंने मीमांसकों के कोरे कर्मकांड तथा शंकराद्वैतवादियों के ज्ञानकांड का अनेक युक्तियों के साथ खंडन किया और अपने भक्ति ज्ञान के अनुसार प्रसिद्ध वेदांत ग्रंथों का तात्पर्य भी निर्धारित किया। तदनुसार इन्होंने स्मार्तों द्वारा प्रचलित किए गए एक से अधिक देवताओं की पूजन प्रणाली को अस्वीकार कर एकमात्र विष्णु भगवान की आराधना का प्रचार किया और उसके लिए तीन वर्गों के अतिरिक्त शूद्रों को भी योग्य ठहराया। शूद्र जैसे श्रेणी वालों को विशेषकर 'प्रपत्ति' की व्यवस्था दे दी, जिसका मुख्य अभिप्राय अपने को भगवान की शरण में समर्पित कर उन्हीं की दया मात्र पर पूर्ण भरोसा करना रहा।''[2]

आलवारों के पश्चात निंबार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु ने विभिन्न प्रांतों में अपनी भक्ति पद्धति का प्रचार किया। रामानुजाचार्य की भांति इन आचार्यों ने भी अपने संप्रदाय खड़े किए। दक्षिण भारत के आचार्यों ने उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार किया। इन्हीं आचार्यों की परंपरा हिंदी साहित्य में पल्लवित हुई। निंबार्काचार्य दक्षिण भारत के थे। इन्होंने द्वैत-अद्वैत सिद्धांत के आधार पर राधा-कृष्ण की भक्ति प्रतिपादित की। इन्होंने अपनी कर्मभूमि ब्रजमंडल को बनाया। वृंदावन, गोवर्धन और नीमगाँव आदि स्थानों पर घूम-घूमकर अपने सिद्धांतों का प्रचार किया। इस संप्रदाय के प्रमुख कवि श्रीमद् हरि व्यासदेव और परशुराम देव हुए। आचार्य वल्लभ भी दक्षिणात्य थे। इनका संबंध काशी से भी था। इनका मत शुद्धाद्वैत और आचार्य पक्ष पुष्टिमार्ग कहलाता है। वल्लभाचार्य ने ब्रज मंडल में कृष्ण भक्ति को प्रतिष्ठित किया। पुष्टिमार्गीय भक्ति में किसी प्रकार के साधन की आवश्यकता नहीं होती। यह रागानुराग भक्ति है। वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित पुष्टिमार्ग का पालन करने वाले हिंदी के कवि अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन आठ कवियों में चार वल्लभचार्य के शिष्य थे और चार गोस्वामी विट्ठलनाथ के। वल्लभचार्य के शिष्य थे कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास और कृष्णदास। विट्ठलनाथ के शिष्य थे - गोविंद स्वामी, नंददास, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास।

उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार करने वालों में रामानंद का नाम सर्वोपरि है। इनकी प्रसिद्ध पंक्ति है - 'भगति द्राविणी द्राविड ऊपजी, लाए रामानन्द। '

भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने सबको समान माना। उन्होंने घोषणा की- 'जाति-पाति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै, सो हरि का होई'। तथा 'सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणों मताः'। इनके शिष्यों में विभिन्न जाति-वर्णों के लोग थे। भक्तमाल में रामानंद के बारह शिष्यों का वर्णन है। इनके शिष्यों में कबीर जुलाहा, रैदास चमार, धन्ना जाट, सेन नाई तथा पीपा

क्षत्रिय थे। अन्य शिष्य - अनंतानंद, सुखानंद, नरहर्यानंद, भावानंद तथा पद्मावती हैं। रामानंद के समकालीन मौलाना रशीदुद्दीन ने अपने ग्रंथ 'ताजकीर तुल फुकरा' में रामानंद के शिष्यों की संख्या 500 से भी अधिक बतायी है। द्वादश शिष्यों का विशेष कृपा पात्र बतलाया है। रामानंद ने भक्ति के क्षेत्र में जो कुछ भी किया वह तत्कालीन समाज के लिए महत्वपूर्ण घटना थी। रामानंद और उनके शिष्यों ने हिंदू समाज के बहुत बड़े हिस्से को टूटने से बचा लिया।

समाज की कथित छोटी जातियों में उत्पन्न होने के बावजूद इनका स्वाभिमान काफी ऊँचा था। इन संतों ने भारतीय दर्शन के मूल तत्व को अपनी सीधी सपाट वाणी में अपने पेशे से युक्त शब्दों के द्वारा दैनंदिन चर्या के कामों में आने वाले शब्दों से उपमा, उपमेय ग्रहण कर सर्वजन के लिए सुलभ करा दिया। यह संत काव्यशास्त्र के पंडित नहीं थे। इन्होंने कभी काव्य शिक्षा के ग्रंथों का अध्ययन नहीं किया था, लेकिन काव्य रचना के लिए इनमें प्रतिभा थी। अपनी बात को सामान्यजन तक संप्रेषित करने की कला में सिद्धहस्त थे।

रामानंद के शिष्यों में संत रैदास जब कहते हैं कि - जाति ते कोई पद नहीं पहुंचा, तो उनके भीतर का स्वाभिमान बोलता है। रैदास ने कभी जाति नहीं छुपाई व आजीवन छुआ छूत के विरुद्ध संघर्षरत रहे। वह अपने पदों के अंत में कह रविदास चमारा की घोषणा करते हुए पाखंड का पर्दाफाश करते हैं। रैदास हिंदू या मुसलमान के द्वारा समाज में किए जा रहे पाखंड और अपमान वृत्ति को देखकर कभी विचलित नहीं हुए। उनका शिष्य होने में सवर्णों ने भी गर्व की अनुभूति की। 13वीं से 16वीं सदी तक जो भक्ति संपूर्ण भारत में व्याप्त हुई, उसमें सर्व प्रमुख बात है - समानता, स्वाभिमान, देसी याद, जनभाषा तथा श्रमजीवी साधुता। वीर संप्रदाय या लिंगायत संप्रदाय के प्रवर्तक सर्वेश्वर थे। यह कर्नाटक के थे बसवेश्वर ने 'अनुभव मंटप' की स्थापना की। अनुभवी पुरुष केवल आत्मचिंतन नहीं करता था। वह जीवित गोपाल जन के लिए शारीरिक परिश्रम भी करता था। इसे वे ईश्वर अर्पित कर्म समझते थे। संत लल्ला या लल्लेश्वरी को मेहतर जाति का कहा जाता है। इन्होंने जो कुछ भी कहा, वह कश्मीरी भाषा में है। ''संत लल्लेश्वरी ने कश्मीर के संरक्षक संत patron Saint of Kashmir शेख नूरुद्दीन अथवा नंद ऋषि (साल 1434 से 1495) को भी प्रभावित किया।''[3]

भक्ति आंदोलन की बड़ी उपलब्धि महिला रचनाकारों को उपस्थित करना है। लल्लेश्वरी के अतिरिक्त कई महत्वपूर्ण महिला लेखिका हैं जो इस समय दिखायी पड़ती हैं। संत चरणदास के शिष्यों की संख्या 52 थी। उनमें इनकी दो प्रमुख शिक्षिकाएं सहजोबाई और दयाबाई भी थीं। मीराबाई के नाम से पूरा देश परिचित था।

भक्ति आंदोलन में मुस्लिम संतों की भूमिका उल्लेखनीय है। पहली बार इतनी बड़ी संख्या में मुसलमान संत प्रकाश में आए। इन संतों ने अल्लाह और ईश्वर की एकता को स्थापित किया। 'दादूपंथ' ने बड़ी मात्रा में निर्गुण संतों को अपने साथ जोड़ा। दादू का जन्म-स्थान गुजरात का अहमदाबाद है। इनकी जाति धुनिया थी। इसका मुख्य कार्य स्थान राजस्थान था। इनका संप्रदाय परब्रह्म संप्रदाय कहलाया। दादू के शिष्यों में गरीबदास, रज्जब और सुंदरदास प्रमुख हैं। इनके विद्वान शिष्यों ने ग्रंथों को ग्रंथ ईद करने की नयी पद्धति अपनाई। इस पंथ में हिंदू और मुसलमान दोनों जुड़े। हिंदू और मुस्लिम राज परिवारों ने भी दादूपंथ के प्रति श्रद्धा व्यक्त की।

भक्तिकाल के तमाम संत संप्रदायों का आलोड़न-विलोड़न करने के पश्चात यह बात ध्यान में आती है कि संतों ने 'नामजप' को बहुत अधिक महत्व दिया। कीर्तन पर बल दिया। इनमें से अधिकांश मंदिर और मस्जिद के विरोधी थे। इसके बावजूद वे 'नाम महिमा' का प्रतिपादन करते थे। सत्संग, कीर्तन, भजन इनकी साधना का अंग था।

इन्होंने गाने-बजाने का अलग यंत्र विकसित किया। भक्ति आंदोलन की एक बड़ी उपलब्धि बहुत बड़ी मात्रा में छोटी कहीं जाने वाली जातियों से संतों-भक्तों का आगमन हुआ। इनके भीतर वही स्वाभिमान, निष्ठा और भावना दिखलायी पड़ती है, जो शब्द कहे जाने वाले संतों-भक्तों के यहाँ हैं, यह कुछ अधिक ही स्वाभिमानी थे। निर्गुण संतों में श्रमजीवी साधु थे। यह अपने श्रम की रोटी खाते थे। कबीर कपड़ा बुनते थे। रैदास जूते बनाते थे। सेन नाई थे।

भक्ति आंदोलन ने जनभाषा को अपनाया, जो संत पढ़े-लिखे नहीं, उन्होंने तो जनभाषा में लिखा है, साथ ही संस्कृत के प्रकांड पंडित कवियों ने भी जनभाषा में ही लिखा। तुलसीदास ने घोषणा की -

'कीरति भनीति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सबकर हित होई।'

संस्कृत के विद्वान होते हुए भी तुलसीदास ने अवधी और ब्रजभाषा में लिखा। उत्तर भारत में जो कार्य रामानंद ने किया, वही कार्य वृहत्तर असम में शंकरदेव ने किया। शंकरदेव ने भक्ति के क्षेत्र में सबको समान प्रवेश दिया। शंकरदेव की शिष्य परंपरा में बड़े-बड़े भक्त, समाज सुधारक, कवि और नाटककार उत्पन्न हुए। शंकरदेव की छत्रछाया, आलोक और नेतृत्व में वैष्णव भक्ति असम में फैली। शंकरदेव और रामानंद की तुलना करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार महेश्वर नियोग ने लिखा है ''it was Ramananda of Northern India (1299-1410), who adopted the medium of the language of the common people for his teaching and gave it the dignity of a classical tongue. sankardev also adopted the effective means of forgetting the gospel of his faith through Assamese. the the the bhagwantapur formed the mainstay of his cult. This work he studied slowly and rendered portions of it into simple Assamese verses, songs and dramas, so that the teaching might appeal to the the commonality.''[4]

शंकरदेव संपूर्ण पूर्वोत्तर भारत के महत्वपूर्ण संत कवि हैं। शंकरदेव का पूरा जीवन संघर्षों में बीता। इनका जन्म सन् 1449 ई को नवगाँव जिले के बरदोवा नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम कुसुमवर भुइयां तथा माता का नाम सत्यसंधा था। इनके पिता जागीरदार व कुशल संगीतज्ञ थे। इनके पिता के राज्य काल में कछारियों ने आक्रमण किया। उनके आगमन से बचने के लिए शंकरदेव के पिता को जंगल

में छिपना पड़ा था। उनका जन्म भुइयाँ राज्य कुल में हुआ था। जब शंकरदेव छोटे थे, तभी इनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। 12 वर्ष की अवस्था में इन्हें महेंद्र कंदली की पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजा गया। प्रारंभ में तो विद्यालय से उनका मन उचटा, लेकिन सात आठ वर्षो में उन्होंने वेद, उपनिषद, पुराण तंत्र तथा योग आदि का अध्ययन कर लिया। 21 वर्ष की अवस्था में विद्या अध्ययन के पश्चात घर लौटकर अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में कुछ दिनों तक इन्होंने राज का संचालन भी किया। इनका विवाह सूर्यवती नाम की स्त्री से हुआ इन्हें एक पुत्री भी हुई। पुत्री के जन्म के कुछ समय बाद ही इनका मन सांसारिक जीवन से उचट गया। उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह हरी नामक एक युवक से करने के पश्चात 32 वर्ष की अवस्था में सन् 1481 ई. में गृह त्याग दिया। उन्होंने तीर्थाटन करने का सोचा। वे तीर्थाटन पर निकल पड़े। उनके साथ 17 लोगों की एक टोली थी। इस टोली में इनके गुरु महेंद्र कंदली भी थे। इन्होंने वाराणसी, प्रयाग, मथुरा, वृंदावन, गोकुल, कुरुक्षेत्र, अयोध्या, बद्रिकाश्रम, जगन्नाथ पूरी, रामेश्वर आदि तीर्थों की यात्रा की। अपनी तीर्थयात्रा के दौरान यह सबसे अधिक जगन्नाथपुरी में रुके। इस तीर्थयात्रा से इनका अनुभव और व्यापक हुआ। शंकरदेव ने भारत की विविधता और इस में व्याप्त एकता का अनुभव किया। 12 वर्षों तक तीर्थाटन करने के पश्चात सन् 1493 ई. में शंकरदेव अपने घर बरदोवा लौट आये। लौटने पर घर वालों ने उनसे पुनः विवाह करने का आग्रह किया। उस समय उनकी दादी खेरसुती जीवित थी। स्वजनों के आग्रह को स्वीकार करते हुए 48 वर्ष की अवस्था में साल 1497 में शंकरदेव ने कालिका भुईयां की कन्या कालिंदी से पुनः विवाह किया। इससे इन्हें तीन पुत्र रामानंद, कमल लोचन और हरिचरण हुए। रुक्मणी नाम की एक कन्या भी हुई। एक पुत्र कमल लोचन की मृत्यु बचपन में ही हो गयी। विवाह के पश्चात शंकरदेव अपने पैतृक गाँव बरदोवा में ही रहते थे। वहीं पर उन्होंने सन् 1502 ई. में एक छोटा सत्रगृह (देवगृह, जिसे शंकरिया लोग नामघर कहते हैं) स्थापित किया। यहीं पर यह कुछ लोगों के साथ बैठकर सत्संग करते थे; कीर्तन प्रार्थना करते थे। कुछ दिन पश्चात शंकरदेव माजुली पहुँचे। यहाँ पर उनकी भेंट माधवदेव से हुई। माधवदेव ने शंकरदेव का शिष्य होना स्वीकार किया।

माधवदेव उनकी मृत्यु के पश्चात उत्तराधिकारी बने। बाद में शंकरदेव पाटबांउसी आ गये। ये यहाँ अठारह वर्ष रहे। पाटबांउसी में उन्हें थोड़ी स्थिरता और शांति मिली। यहाँ पर रहते हुए, यह यदा-कदा कोच दरबार भी जाते थे। इन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ यही लिखी। नामघर स्थापित किया। अनंत कंदली यही इनके शिष्य बने। पाटबाँउसी से ही सन् 1550 ई. में शंकरदेव ने अपनी दूसरी तीर्थ यात्रा शुरू की थी। इस तीर्थ यात्रा में 120 अनुयायी इनके साथ थे। इस बार यह केवल जगन्नाथपुरी गये। तीर्थ यात्रा से लौटने के पश्चात उन्होंने अपने धर्म प्रचार को गति प्रदान की। इनकी लोकप्रियता से ईर्ष्या कर कुछ लोगों ने कोच राज नरनारायण से इनकी आलोचना की। शंकरदेव को भी बुलाकर दरबार में लाया गया। राजा की आज्ञा अनुसार शंकरदेव ने दरबार में पंडितों से शास्त्रार्थ किया। शंकरदेव विजयी हुए। राजा ने शंकरदेव की श्रेष्ठता को स्वीकार किया। वे इनकी प्रतिभा और भगवत भक्ति से प्रभावित हुए। राजा ने शंकरदेव को राजकीय सम्मान देते हुए उन्हें अपना राजकवि बनाया। राजा शंकरदेव का मित्र बन गया। इस प्रकार शांकरी मत के प्रचार प्रसार की एक बहुत बड़ी बाधा समाप्त हो गई। एक तरह से शांकरी मत अब राज मत बन गया। राजा ने शंकरदेव के लिए निवास स्थान एवं सत्र भी बना दिया। शंकरदेव अधिकतर वहीं रहने लगे। 1568 ईस्वी में उनका स्वर्गवास हो गया।

शंकरदेव ने विपुल साहित्य की रचना की। इनकी जो रचनाएं प्रकाशित रूप में उपलब्ध है, उनके नाम हैं - हरिश्चंद्र उपाख्यान, कीर्तन घोष (कीर्तनों का संकलन), बरगीत, रुक्मिणी हरण, गुणमाला, महा भागवत, भक्ति प्रदीप, भक्ति रत्नाकर, तोटय और भटिया, उत्तराखंड (रामायण), पत्नी प्रसाद, रुक्मिणी हरण (नाट), केली-गोपाल, कालि-दमन, पारिजात हरण और राम विजय

इनकी रचनाओं को रचना तिथि के क्रम में व्यवस्थित करना कठिन कार्य है, क्योंकि रचना तिथि की कोई स्पष्ट सूचना प्राप्त नहीं है। डॉक्टर महेश्वर नेओग तथा प्रोफेसर कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' ने परिश्रमपूर्वक एक क्रम निर्धारित किया है। प्रोफेसर मागध ने प्रोफेसर नेओग के क्रम में किंचित सुधार करते हुए शंकरदेव की रचनाओं का क्रम इस प्रकार दिया है।

अ) प्रारंभिक - सन् 1516 ईसवी के पूर्व।

(क) भागवत - इतर आधार पर रचित

1. हरिश्चंद्र - उपाख्यान (मार्कंडेय पुराण पर आधारित)
2. भक्ति प्रदीप - गरुड़ पुराण पर आधारित
3. कीर्तन घोषा-उरेषा वर्णन (ब्रह्मपुराण पर आधारित)

(ख) भागवत के आधार पर रचित

4. रुक्मणी हरण काव्य श्रीधरी व्याख्या से प्रभावित किंतु हरिवंश से किंचित प्रभावित)।
5. महा भागवत - षष्ठ स्कंध (अथवा आजामिलोपाख्यान) और अष्टम स्कंध (अथवा गजेंद्रोपाख्यान और अमृत मंथन)।
6. गुणमाला - द्वितीय षष्ठ अध्याय।
7. कीर्तन घोषा - आजामिलोपाख्यान (षष्ठ स्कन्ध), प्रहलाद चरित्र (तृतीय, सप्तम स्कंध), हरमोहन, बलि छ्लन, गजेंद्रोपाख्यान (अष्टम स्कंध), चतुर्विशति अवतार वर्णन और ध्यान वर्णन।

(ग) बरगीत - संभवतः निम्नांकित पंक्तियों से प्रारंभ होने वाले गीत

1. मन मेरि राम चरणहिं लागु- गीत संख्या 28।
2. राम मेरी हृदय पंकज रहिए - गीत संख्या 29।

(ब) मध्यवर्ती (अहोम राज्यातर्गत) 1516 ई. से 1543 ई. तक। कवि के जीवन में यह कालखंड सर्वथा अशांति, विरोध और आत्मालोचन का है। फलतः इस समय दो प्रकार की रचनाएँ हुई होंगी। यथा-

(क) भक्ति विरोधियों को लक्ष्य कर लिखे गए ग्रंथ

1. कीर्तन - घोषा, पाषंड- मर्दन, नामापराध।
2. पत्नी - प्रसाद (नाटक)।

(ख) कृष्ण- लीला से संबंधित रचनाएं -

3. कीर्तन घोषा- शिशु लीला, कालिय-दमन, रास-क्रीडा, कंस वध, गोपी उद्धव संवाद, कुजी-बांछापूरण और अक्रूर-वांछा पूरन। इनके अतिरिक्त ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि बरगीत की रचना इस अवधि में भी चलती रही होगी।

(स) अंतिम (कोच राज्य अंतर्गत) - 1543 ई. से 1568 ई. तक)

4. कीर्तन घोषा- जरासंध वध, काल यवन वध, मुचकुंद स्तुति, श्यामंतक-हरण, नारदर, कृष्ण दर्शन, विप्र पुत्र- आनयन, दामोदर विप्र आख्यान, देवकी पुत्र आनयन, वेद स्तुति, लीला माला, रुक्मणी प्रेम कला, भृगु परीक्षा, बैकुंठ प्रयाण और भागवत तात्पर्य वर्णन।

5. महा भागवत - प्रथम स्कंध, द्वितीय स्कंध, तृतीय स्कंध, अष्टम् स्कंध, नवम् स्कंध, दशम् स्कंध, एकादश स्कंध और द्वादश स्कंध।

6. गुणमाला प्रथम अध्याय

7. तोटय और भटिमा

8. उत्तरकांड (रामायण) (रामकथा वाल्मीकि रामायण पर आधारित)

9. भक्ति रत्नाकर (विभिन्न शास्त्रों के आधार पर संपादन और व्याख्या)

10. कालिय - दमन नाट

11. केली गोपाल - नाट

12. रुक्मणी हरण - नाट

13. पारिजात हरण - नाट

14. राम विजय - नाट - 1568 ई.

बरगीत की रचना अवधि भी संभवतः यही है।

भाषा के आधार पर विचार करें तो ब्रजावली में इनकी कुल 8 कृतियां हैं - काव्य : 1. बरगीत, 2. फुटकर पद्य, तथा सभी नाटक - यथा : 1. पत्नी प्रसाद, 2. कालि दमन, 3. केली गोपाल, 4. रुक्मणी हरण, 5. पारिजात हरण 6. राम विजय।

शंकरदेव मध्यकाल के संभवत एकमात्र ऐसे संत हैं जिन्होंने नाटक लिखा। इनके नाटकों का उद्‌देश्य भी भक्ति का प्रचार है। इनके प्रत्येक नाटक में असत्य पर सत्य की विजय दिखायी पड़ती है। इन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से महाभारत, रामायण और भागवत की कथा को जन-जन तक पहुँचाया। इनके नाटकों में सूत्रधार का प्रयोग हुआ है। संस्कृत श्लोक भी है। 'केली गोपाल' नाटक की कथा वस्तु भागवत, विष्णु पुराण और हरिवंश से ली गई है। 'राम विजय नाटक' का आधार वाल्मीकि रामायण है। 'तोटय' मैं कवि ने विष्णु की स्तुति की है। शंकरदेव के यहाँ दो प्रकार की है - देव भटीमा और राज भटीमा। इनके नाटकों में प्रयुक्त भटीमाओं में देव स्तुति है। बर गीत का शाब्दिक अर्थ श्रेष्ठ गीत है। असम में शंकरदेव और माधवदेव रचित भक्ति पर गीत और को बर गीत कहा जाता है। बर गीतों को गाने की कई पद्धतियां हैं। इनके प्रतिपाद्य भी भिन्न हैं। प्रोफेसर मागध ने लिखा है ''वर्तमान समय में परंपरा भेद और स्थान भेद के आधार पर बरगीतों के गाने की तीन प्रमुख पद्धतियां देखी जाती हैं। (क) बरपेटा परंपरा, (ख) बरदोवा परंपरा, (ग) माजुली परंपरा। यह तीनों गायन पद्धतियां एक दूसरे से किंचित भिन्न होते हुए भी कई दृष्टियों से अभिन्नसी हैं। गीतों में मुख्यतः कृष्ण वंदना, कृष्ण का रूप सौंदर्य, कवि का दैन्य, ईश्वर लीला की विचित्र अता, नाम महिमा, भक्ति की महत्ता, भक्ति रहित जीव, कवि का आत्म निवेदन, संसार की भंगुरता, मन प्रबोध, गोपी विरह, वंशी प्रभावित आदि से संबंधित वर्णन हैं।''[5]

शंकरदेव संस्कृति के प्रकांड विद्वान थे, लेकिन इन्होंने भी जनभाषा असमिया को अपनाया। स्थान-स्थान पर संस्कृत के श्लोक भी आए हैं। तुलसीदास ने भी संस्कृत में श्लोक लिखा है। इन दोनों कवियों ने यह सिद्ध किया कि संस्कृत का ज्ञान होते हुए भी जन्मभाषा में लिख रहे हैं। शंकरदेव की रचनाएं इनके वैष्णव मत का प्रतिपादन करने के लिए हैं। नाम धर्म का प्रचार इन रचनाओं का उद्‌देश्य है। शंकरदेव ने कहा कि- 'आउर धर्म कल्पित नाम त परे नाई।' यह भी स्थापित किया कि विभिन्न युगों में धर्म का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है- सत्य युगे पूजे विष्णु धरिया समाधि। महा महा यज्ञ त्रेतायुग आराधि॥ येन गति द्वापरत पूजि भक्ति भावे। कलित कीर्तन करि सबे फल पावे॥

भक्ति आंदोलन से जुड़े सभी संतों ने जाति-पाँति तथा भेदभाव को नकार दिया। कबीर दास ने कहा-

''एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भाँड़े, एक ही सिरजन हारा॥''

संत रविदास ने कहा-

''सबमैं हरि है, हरि में से है, हरि अपनो जिन जाना।
साखी नहीं और कोई दूसरा, जाननहारा सयांना॥ ''

शंकरदेव भी कहते हैं कि हरि भक्ति में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होता-

''शुना रामायण सबे सभासद यत।
हरि भकतरि देखा महत्व॥
तृण वन वृक्ष पशु पतगरो गति
एकोवे न बाछे देखा हरिर भकति॥ ''

शंकरदेव ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। उन्होंने कहा कि किरात, कछारी, खासी, गारो, मिरि, यवन, कोच, म्लेच्छ, चांडाल सभी कृष्ण सेवक की संगति से पवित्र हो जाते हैं। वह सभी भगवत भक्ति को प्राप्त कर इस संसार से मुक्त होते हैं और बैकुंठ को प्राप्त करते हैं-

''किरात कछारी खासी गारो मिरि
यवन कंक गोवाल
असम मुलुक रजक तुरुक
कुवाच म्लेच्छ चंडाल
आनो यत नर कृष्ण सेवक
संगत पवित्र हय।
भकति लभिया संसार तरिया
बैकुंठे सुखे चलय। ''

शंकरदेव ने लोकभाषा को अपनाया, लोक तक अपने मत को पहुँचाने के लिए उन्होंने नाटक लिखा। नाटकों का स्वयं मंचन किया। वे अच्छे नाटक निर्देशक भी थे। वादक भी, इन्होंने कई वाद्य यंत्रों का विकास किया। इनके लोक नाटकों से प्रभावित होकर ही असम में भाओना का प्रचलन हुआ। इन नाटकों ने धर्म प्रचार भी किया, समाज सुधार भी किया। इन्होंने जिस 'एकशरणीया' मत का प्रवर्तन किया, वहाँ भागवत पूज्य

ग्रंथ बना, वहाँ कोई मूर्ति नहीं है। उनके अनुयायी उनकी मूर्ति पूजा के लिए नहीं रखते। नानक पंथ में गुरुग्रंथ साहिब ने पूजा प्राप्त की। दादूपंथ में भी पुस्तक ही पूजा है। मंदिर में ग्रंथ ही रखा हुआ है। उसी की पूजा होती है। उसी का पाठ होता है। गुरुग्रंथ साहिब में कई संतों की वाणियां हैं। दादूवाणी में दादू की ही रचनाएं हैं।

शंकरदेव के पंथ में भागवत पुराण को पूज्यता प्राप्त है। उनका उद्देश्य वैष्णव भक्ति का प्रचार करना है। ऐसी वैष्णव भक्ति का, जिसमें सबको समानता का अधिकार है। इनके नाटकों का उद्देश्य भी भक्ति और मुक्ति है।

शंकरदेव की विचारधारा के साथ असम का सामान्य जन उत्साह के साथ जुड़ा। इन्होंने बिना भेदभाव किए भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। इसका प्रभाव यह पड़ा कि तत्कालीन बहुत-सी जनजातियों ने भी इनकी भक्ति पद्धति को अपनाया। डॉक्टर महेश्वर नियोग ने लिखा है - "In the namaghosa , madhav Deva refers to the acceptance of naam Dham by people of Garo Bhutia muslim Islamia home and kachari origin... And old work called Amulya Ratna names together these bhsktas of Assam: Govinda, A Garo, Parmananda parmanand, a Miri; Narahari a Ahom; Jayarama, a Bhutiya; Chandi, a Muslim and Bhattadeva, a Bhramin Candasi (Chand Kahan?) was converted by shankar deva himself. into the faith and he was so much respected within the order that he is counted among the great bhakts, identified with the beads of a Assam Vaisanava rosary."6

शंकरदेव ने अपने कार्य से संपूर्ण पूर्वोत्तर भारत को प्रभावित किया। शंकरदेव न होते तो पूर्वोत्तर का दृश्य कुछ और होता। आज जो वैष्णव भक्ति पूर्वोत्तर में दिखलाई पड़ती है, उसके मूल में शंकरदेव हैं। पूर्वोत्तर में जहाँ भी शांति, सद्भावना, प्रेम और सहिष्णुता है, वहाँ कहीं न कहीं, किसी-न-किसी रूप में शंकरदेव उपस्थित हैं।

संदर्भः-

1. भक्ति का विकास, डॉ मुंशीराम शर्मा, चौखंबा विद्या भवन, द्वितीय संस्करण- 1979, पृ. 309
2. उत्तरी भारत की संत परंपरा, परशुराम चतुर्वेदी, भारतीय भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण- 1972, पृ. 79
3. उत्तरी भारत की संत परंपरा, परशुराम चतुर्वेदी, भारतीय भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण- 1972, पृ. 100
4. रिलीजन ऑफ द नॉर्थ ईस्ट, महेश्वर नियोग, प्रकाशकः मुंशीराम मनोहरलाल, प्रथम संस्करण- 1884, पृ. 140
5. शंकरदेवः साहित्यकार और विचारक, डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' मदन प्रकाशनः पंजाब यूनिवर्सिटी, पटियाला 1976, पृ. 56
6. रिलीजन ऑफ द नॉर्थ ईस्ट, महेश्वर नियोग, प्रकाशक, मुंशीराम मनोहर लाल, प्रथम संस्करण, 1987, पृ. 140

ई. मेल -**nkpandey65@gmail.com**

❖❖❖

रामाख्यानक परंपरा में श्रीमंत शंकरदेव की कृतियों का मूल्यांकन

प्रो. दिनेश चौबे

भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से ही राम और रामाख्यानकों का महत्व मान्य है। रामाख्यान भारतवासियों का युगों-युगों से उचित मार्गदर्शन करते आये हैं। इसीलिए युगानुरूप निरंतर नव-नव रामाख्यान विभिन्न भाषाओं की विभिन्न विधाओं में रचना होती रही है। रामकथा का मूल स्रोत वाल्मीकि रामायण है। इसी के आधार पर आधुनिक भाषाओं में सैंकड़ों रामायणें रची गई हैं। मध्ययुगीन भारतीय भक्ति-आंदोलन में रामाख्यान और रामचरित को सर्वथा नवीन गति मिली थी। उसी के फलस्वरूप राम के ईश्वरत्व के प्रत्यक्षीकरण के लिए अनेक रामायणों की रचनाएँ विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में हुई। असमिया के प्रथम रामायणकार माधवकंदली का रचनाकाल भक्ति-आंदोलन की पूर्ववर्ती सीमा पर पड़ता है। इस रामायण का मूलाधार वाल्मीकि रामायण को सप्तकाण्डात्मक रूप प्रदान करने में प्रधान भूमिका महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव की है, जिन्होंने माधवदेव को प्रेरित कर कंदली के 'आदिकाण्ड' की रचना करायी और स्वयं 'उत्तरकाण्ड' रचा। संस्कृतेतर भाषाओं में असमिया रामायण का स्थान सर्वप्रथम है। यहाँ रामाख्यानक परंपरा का परिचय प्रस्तुत कर श्रीमंत शंकरदेव की रामाख्यानक कृतियों के महत्व को निरूपित करना उद्देश्य है।

रामाख्यानक काव्य की विकास-परंपरा उसकी सुदीर्घता एंव व्यापकता के संदर्भ में ही विवेचित की जा सकती है। रामाख्यान भारतीय संस्कृति में इतने व्यापक रूप में फैले कि तत्कालीन प्रचलित तीनों धर्मो में अपनी लोकप्रियता के कारण एक निश्चित स्थान बना लिया। राम सनातन धर्म में विष्णु के अवतार, बौद्धधर्म में बोधिसत्व और जैन धर्म में आठवें बलदेव के रूप में स्वीकृत हुए। परवर्ती काल में संस्कृत के धार्मिक साहित्य, ललित साहित्य की प्रत्येक शाखा में, अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यों में और भारत के निकटवर्ती देशों के साहित्यों में रामकथा महत्वपूर्ण स्थान पा सकी है रामकथा-''साहित्य की विस्तृति से इसकी लोकप्रियता एवं व्यापकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।''[1] रामाकथा का मूल स्रोत वाल्मीकि - रामायण होते हुए भी वेदों में रामकथा के कुछ पात्रों का उल्लेख मिलता है जिनके आधार पर विकास-परंपरा में वैदिक लोकगाथाओं का उल्लेख किया जा सकता है। रामकथा का कोई सम्यक् रूप वेदों में प्राप्त नहीं होता। ऋग्वेद, यजुर्वेद, आदि में इक्ष्वांकु, राम, सीता, वशिष्ठ, विश्वामित्र, जनक आदि का उल्लेख मिलता है। रामकथा का सम्यक रूप सर्वप्रथम वाल्मीकि कृत रामायण ही माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि, ''रामकथा की लोकप्रियता को देखकर ही वाल्मीकि ने उसे आदिकाव्य का रूप प्रदान किया। रामकथा कालांतर में मौखिक होने के कारण वृद्धि पाती गयी।''[2] रामकथा की दृष्टि से वाल्मीकि-रामायण प्राचीनतम् ग्रंथ है। भारतीय परंपरा वाल्मीकि को आदिकवि और उनके द्वारा रचित रामायण को आदिकाव्य मानती है। इसका रचनाकाल अनिश्चित है। इस रामायण के तीन पाठ -दक्षिणात्य, गौड़ीय और पश्चिमोत्तरीय मिलते हैं जिनमें किंचित विभिन्नता पायी जाती है। रामकथा महाभारत में भी पायी जाती है। इसके मुख्यतः आरण्यक पर्व और शांति पर्व के अंतर्गत रामोपाख्यान मिलता है। महाभारत के पश्चात रामकथा का विस्तार विभिन्न रूपों में मिलता है। एक ओर वह वेदसम्मत धार्मिक साहित्यों-पुराणों-आगमों आदि में वर्णित है वहीं संस्कृत के ललित साहित्य में उसे विस्तार मिला है।

दूसरी ओर बाह्य बौद्ध और जैन साहित्यों में भी रामकथा के लिए अनेक पृष्ठ सुरक्षित हो उठते हैं। बौद्ध ग्रथों में रामकथा को जातक, अनामक जातक साहित्य में स्थान दिया गया है। तीन जातकों - दशरथ जातक, अनामक जातक और दशरथ कथानम में दशरथ जातक अधिक प्रसिद्ध है। जैनियों ने रामकथा के पात्रों को अपने धर्म में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। राम, लक्ष्मण और रावण का स्थान त्रिषष्ठि पुरुषों में है, क्रमशः वे आठवें बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के रूप में स्वीकृत हैं।''[3] जैन ग्रंथों में रामकथा की दृष्टि से दो ग्रंथ उल्लेखनीय है- विमलसूरी कृत पउमचरिउ और गुणभद्र कृत उत्तरपुणम्।

समान उद्देश्य से लिखे गये अठारह पुराणों का होना इस बात का प्रमाण है कि सबमें दृष्टि भेद विद्यमान रहा। विभिन्न पुराणों में विभिन्न संप्रदायों का प्रभाव भी परिलक्षित है। हरिवंश पुराण, मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण, विष्णुपुराण, नारदीय महापुराण, स्कन्द महापुराण, शिव महापुराण, भागवतपुराण आदि में राम के विभिन्न रूपों का वर्णन हुआ है। उदाहणार्थ स्कन्द महापुराण में राम को पूर्णत; शिव भक्त बना दिया है तो श्रीमद देवीभागवत पुराण, कालिका पुराण आदि में राम बिना शक्ति की कृपा के कोई भी सफलता न पा सके। सांप्रदायिक रामायणों के अंतर्गत योगवाशिष्ठ रामायण, अध्यात्म रामायण, अदभूत रामायण, आनन्द रामायण, तत्व संग्रह रामायण आदि प्रमुख हैं। संग्रह रामायण आदि प्रमुख हैं। संस्कृत महाकाव्यों के अंतर्गत रघुवंश (कालिदास), रावणवध (भट्ट) आदि उल्लेखनीय हैं। संस्कृत नाटकों में प्रतिमा, अभिषेक , महावीर चरित आदि रामकथा के विकास की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। विभिन्न प्रांतीय भाषाओं की रामायणों में असमिया में माधव कंदली कृत रामायण, ओडिया में सारलादास का रामायण, बलरास का रामायण, बंगला में कृतिवासी रामायण, तमिल

में कम्बन-रामायण, तेलुगु में रंगनाथ-रामायण, भास्कर-रामायण, गुजराती में भलन का रामबाललीला, नेपाली में भानुभक्त-अध्यात्म रामायण, कश्मीरी में प्रकाश-रामायण, पंजाबी में गुरुगोविन्द सिंह का रामावतार , मराठी में एकनाथ का भावार्थ-रामायण, मलयालम में रामायण- चम्पू एंव रामचरितम् आदि उल्लेखनीय हैं। यहीं पर हिंदी की प्रमुख रामायणों का उल्लेख प्रासंगिक हैं- चन्दबरदाई-अथ दशम (पृथ्वीराज रासो का द्वितीय), रामानन्द के दो पद, विष्णुदास-रामायणकथा, सूरजदास-रामजन्म, साईंदास-रामावतार चरित, सूरदास-रामचरित (सूर सरावली), माघवदास जगन्नीथी- रघुनाथ लीला, पुरुषोत्तम दास-कुशलवोपाख्यान, ईश्वरदास-रामावतार (हरिरस) परशुराम देवाचार्य-रघुनाथ चरित एवं सवैया दशावतार और सर्वाधिक लोकप्रिय तुलसीदास का रामचरित मानस, विनय पत्रिका आदि उल्लेखनीय हैं।

रामकाव्य-परंपरा की संक्षिप्त चर्चा के पश्चात् असमिया भाषा के महान कवि महापुरुष शंकरदेव की रामाख्यानक कृतियों का उल्लेख अभीष्ट हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि असमिया में लगभग 1400 ई. माधव कंदली ने 'पंचकाण्ड रामायण' की रचना कर संस्कृतेतर भाषाओं में सर्वप्रथम रामायण रचने का ऐतिहासिक कार्य किया। कछरियों की बाराही शाखा के सोनापुर नरेश महामाणिक्य के अनुरोध पर उनके राज्याश्रित कवि कंदली ने रामायण की रचना कर असमिया साहित्य के गौरव को बढ़ाया कालांतर मे असम में वैष्णव भक्ति आंदोलन के प्रवर्तक श्रीमंत शंकरदेव ने स्वयं उत्तरकांड रचकर और अपने प्रिय शिष्य माधवदेव से आदिकांड की रचना कराकर माधव कंदली कृत रामायण को सप्तकाण्डात्मक रूप प्रदान कर 'कंदली-रामायण' को भक्ति काव्य का स्वरूप प्रदान किया।

महापुरुष शंकरदेव (सन् 1449-1568 ई.) महान कवि, भक्त, समाज सुधारक और संप्रदाय प्रवर्तक हैं। इसमें संबंध में अनेक चरित काव्य लिखे गये है। प्रायः सभी विद्वान इनका जीवन-काल सन् 1449-1568 ई. मानते है। महापुरुष ने बाल्यावस्था में अल्पकाल में ही व्याकरण, काव्य कोश, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों का अध्ययन कर लिया। पत्नी के स्वर्गवासी हो जाने पर संसार से वैराग्य लेकर तीर्थाटन के दौरान वे गया, पूरी, वृन्दावन, मथुरा, काशी, प्रयाग, सीताकुण्ड, बराह-कुण्ड, अयोध्या, बद्रीनाथ आदि तीर्थों का भ्रमण करते हुए अनेक साधु-संतों के संपर्क में आये। उस दौरान उन्होंने अनेक वैष्णव आचार्यों के साथ विचार-विमर्श किया। भ्रमण-काल में जो उन्हें भारतवर्षों की विविधता, अनेकता, विराटता लिए एकता का प्रत्यक्षीकरण हुआ, वहीं जगत की अनंतता और विष्णु-राम-कृष्ण की विराटता और सर्वशक्तिमान की प्रतिमूर्ति बनी। वे अपने साथ अनेक विचार-दर्शन लेकर लौटे। महापुरुष शंकरदेव ने अपने व्यक्ति-चारित्र और सामाजिक ऊर्जा के कारण लोकप्रियता प्राप्त कर धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक गुरुपद को प्राप्त किया। उनके द्वारा प्रचारित 'एक शरणीया धर्म' काफी लोकप्रिय हुआ। श्रीमंत शंकरदेव द्वारा रचित रामाख्यान से संबंधित महत्वपूर्ण रचनाएं हैं- उत्तरकाण्ड रामायण और रामविजय नाट। यहाँ इन कृतियों की रामकाव्य परंपरा के संदर्भ में विवेचन प्रासंगिक होगा।

उत्तरकाण्ड रामायण

''इसका रचना काल सन् 1552-1560 के बीच माना जाता है।''[4] इसमें कुल 762 पद है। 'कथा गुरुचरित'

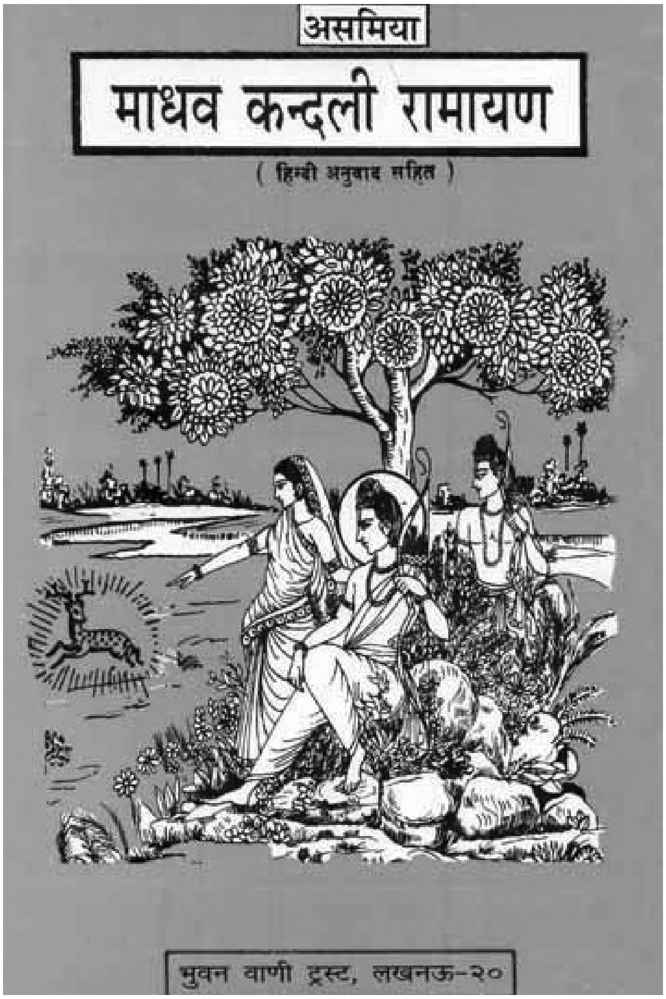

में उल्लेख है कि जब माधव कंदली कृत रामायण की अवहेलना कर अन्नत कंदली ने रामायण की रचना शुरू की तो स्वयं माधव कंदली ने अपनी रामायण की रक्षा के निमित्त

शंकरदेव को स्वप्नादेश दिया। जिससे प्रेरित होकर श्रीमंत ने माधवदेव को 'आदिकाण्ड' की रचना का आदेश देकर स्वयं उत्तरकाण्ड की रचना की। उत्तरकाण्ड की कथा का आधार वाल्मीकि-रामायण है। स्वयं कवि ने इसे 'उत्तरकाण्ड सार' कहा है। यह कृति वाल्मीकि-रामायण का अनुवाद नहीं वरन् एक मौलिक रचना है। यह अधिक सुसम्बद्ध, सुगठित और काव्यमय है। इसमें कवि ने कई प्रसंगों का त्याग कर और कई प्रसंगों के उल्लेख मात्र से कथानक के संघटन पर ध्यान दिया है। उदाहरण के लिए शम्बूक वध, गीध-उलूक विवाद जैसे प्रसंग त्याग दिये गये हैं तो राक्षसोत्पत्ति एवं रावण वध जैसे प्रसंगों का मात्र उल्लेख कर दिया गया है। मार्मिक प्रसंगों के सजीव वर्णन के कारण रचना काव्यमयी हो सकी है। इसी दृष्टि से सीता का पाताल-प्रवेश उल्लेखनीय है। प्रसंग विशेष में रचनाकार ने सीता-वनवास के दो कारणों का उल्लेख किया है-सीता का स्वप्न (छन्द 6727-29) और लोकोपवाद (छन्द 6730-33) । जबकी माधव कंदली कृत रामायण में तारा द्वारा राम को अभिशापित करने को (छन्द 3664-67) सीता-वनवास का कारण माना गया है। इस रचना में कवि का उद्देश्य उनकी महापुरुषिया वैष्णव मत का प्रवर्तन करना माना जा सकता है। ''नाम-धर्म का प्रचार कवि का उद्देश्य प्रतीत होता है''[5] कवि के 'अनुसार हरिनाम का सर्वदा स्मरण करना चाहिए क्योंकि हरिनाम ही कलियुग का परम धर्म है।'[6]

उत्तरकाण्ड रामायण की पात्र-योजना में कवि ने अपनी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। सुशीलता, करुणा, वीरता आदि के साथ लोक भीरूता भी उनके चरित्र मे प्रत्यक्ष होती है। लक्ष्मण का चरित्र मूल रूप से आर्दश भ्राता, सेवक और विचारशील व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। सीता सतिव्रत्य का आर्दश, करुणा की प्रतिमूर्ति के रूप में चित्रित है। सीता का सात्विक क्रोध एवं पाताल-प्रवेश के पूर्व स्वयं को अभागिनी घोषित करना उनके उदात्त चरित्र को दर्शाता है'[7]। 'ब्रजबुलि'[8] में रचित यह एक भक्तिपरक रचना है जो माधव कंदली की रामायण को पूर्णता प्रदान करने के साथ रामकाव्य परंपरा मे एक प्रौढ़कृति के रूप में स्वीकार्य है।

रामविजय नाट

यह 1568 ई. की रचना है। महापुरुष ने राम से संबंधित इस नाटक की रचना की है। यह कृति 'नाटक रामायण' के आदिकाण्ड की घटना-परंपरा के मेल से रचित है। इसकी कथावस्तु दशरथ के दरबार में विश्वामित्र के राम-लक्ष्मण को अपने आश्रम ले जाने के आगमन से प्रारंभ होकर सीता स्वयंवर के पश्चात् राम द्वारा परशुराम को शक्तिहीन कर सीता एवं लक्ष्मण के साथ अयोध्या वापसी तक सीमित है। कवि ने वाल्मीकि-रामायण से भिन्न कुछ मौलिक प्रसंगों को समाहित कर इस कृति को रोचक बना दिया है। विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण के सम्मुख सीता के रूप-सौंदर्य का वर्णन सीता-स्वयंवर का वृतांत कथन, राजाओं का वीभत्स-आचरण राम-लक्ष्मण के साथ राजाओं का युद्ध, परशुराम-विश्वामित्र युद्ध आदि प्रसंग मूल रामायण में नहीं हैं किंतु श्रीमंत शंकरदेव द्वारा वर्णित इन मौलिक प्रसंगों के कारण आलोच्य नाटक की कथावस्तु आकर्षण एवं रोचक बन गयी हैं।

यह स्पष्ट है कि रामकाव्य परंपरा में असमिया रामाख्यानक कृतियों का ऐतिहासिक महत्व है। असमिया में रचित कंदली-रामायण भारतीय सभ्यता और संस्कृति की प्रथम रक्षा कवच है। महापुरुष शंकरदेव ने असमिया रामायण को सप्तकाण्डात्मक रूप प्रदान कर और रामकाव्य परंपरा के विकास में राम काव्य एवं नाटक लिखकर अपूर्व योगदान दिया है। कवि ने नाटक एवं काव्य दोनों विधाओं में रामकाव्य रचकर न केवल उत्तर पूर्वांचल के लिये राम काव्य का मार्ग प्रशस्त किया है वरन् पूरे भारतवर्ष के लिए भी एक आदर्श उपस्थित किया है। रामकाव्य की लोकप्रियता पूरे देश के साथ असम में भी अक्षुण्ण रही है। शंकरदेव के पश्चात उनकी परंपरा में असमिया भाषा में कई रामाख्यानक कृतियों की रचनाएं हुई हैं। श्रीमंत शंकरदेव ने भारत की असम धरा पर जिस शाश्वत भारतीय साहित्य की रचना सदी पूर्व की, वह न केवल धार्मिक अपितु साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से भी अन्यतम उपलब्धि है।

संदर्भ

1. रामकथा, कामिल बुल्के, पृ. 721, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2. वही, पृ. 133-134

3. हिन्दी और असमिया की प्रथम रामायण, दिनेश कुमार चौबे, पृ. 11-12, संजय बुक सेण्टर, वाराणसी

4.असम प्रान्तीय राम साहित्य कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', पृ. 122, हिन्दी विकासपीठ, मेरठ

5. उत्तरकाण्ड, 'आउर घर्म्म कल्पित नामत परे नाइ।' छन्द 7390

6. उत्तरकाण्ड, 'कलित कीर्तन करि सवे फल पावे।' छन्द 7391

7. उत्तराकाण्ड,'तोमर चरण सेविले न पाइलों, मोरे से कर्म विपाक।' छन्द 7117

8. ब्रजबुलि-यह एक कृत्रिम भाषा है जिसमें असमिया लिपि में पूरा कंदलीकृत रामायण रचित है। इस भाषा में पूर्वी भारत और उत्तर भारत की भाषाओं के शब्दों के साथ संस्कृत भाषा के शब्दों का प्रयोग मिलता है। पूरा मध्यकालीन असमिया का साहित्य इसी भाषा में मिलता है।

❖❖❖

शंकरदेव और सूरदास के काव्य में वर्णित 'गोपी- उद्धव' संवाद का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. विजय मणि त्रिपाठी

सूरदास और शंकरदेव दोनों ही कृष्ण भक्त कवि हैं। शंकरदेव ने कृष्ण के साथ ही साथ विष्णु के अन्य अवतारों को भी अपनी भक्ति और काव्य तथा नाटकों का वर्ण्य विषय बनाया है। यहाँ दोनों ही भक्त कवियों द्वारा गोपी - उद्धव संवाद को लेकर लिखी गई पंक्तियों का विवेचन, विश्लेषण करना हमारा उद्देश्य है। सूरदास ने सूरसागर में गोपी - उद्धव संवाद को वर्णित किया है। जिसका अलग से 'भ्रमरगीत सार' के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्रकाशन किया है। शंकरदेव ने भी ब्रजबुलि में लिखित 'बरगीतों' के अंतर्गत गोपी - उद्धव संवाद को लेकर गीतों की रचना की है।

यदि सतही तौर पर देखा जाए, तो दोनों में कुछ खास अंतर दिखाई नहीं देता है क्योंकि दोनों ही रचनाकारों ने अपने आराध्य देव को लेकर तरह-तरह की भक्ति परक उक्तियां कीं। लेकिन जैसे ही हम शंकरदेव कालीन असम के समाज वहां की राजनैतिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, धार्मिक स्थिति आदि को ध्यान में रखकर इन पंक्तियों को पढ़ेंगे, तो इसकी विशिष्टता तथा उद्देश्य दोनों का पता चल जाएगा। जो निश्चित ही सूरदास के उद्देश्य से भिन्न प्रतीत होता है। अतः शंकरदेव के द्वारा रचित 'बरगीत' (जिसके अंतर्गत गोपी उद्धव संवाद भी है) पर विचार करने से पहले असम की तात्कालिक सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति पर विचार करना आवश्यक है।

शंकरदेव का समय सन् 1449 से लेकर 1568 ई. तक है। इस समय के असमिया समाज पर नजर डालते हैं, तो पाते हैं कि इस समय में असम विभिन्न जातियों एवं जनजातियों में बंटा हुआ है। इस बिखराव के कारण सबकी अपनी-अपनी मान्यताएं, रीति - रिवाज, रीतियाँ, कुरीतियां, सामाजिक व्यवस्था आदि हैं। इनमें इन सबको लेकर आपसी टकराव ज्यादा है। कह सकते हैं कि उस समय के असम में असमिया समाज तथा संस्कृति के नाम पर कोई संगठित, सुव्यवस्थित व्यवस्था नहीं थी। यहाँ निवास करने वाली जो बहुसंख्यक जातियां थीं, उनमें परस्पर संघर्ष होता रहता था। उस समय के असम की कुछ प्रमुख जातियां थीं। ''किरात, चिंगफो, मिसमी, आबर, मिरी, डफला, अक्का, भूटिया, मिथिस, मिजो, बोड़ो, चुटिया, मरांग, लालुंग, कोच, डिमसा, मेच, कछारी, टिपरा, राभा, गारो, अंगामी, सेमा, कोंयक, तांखुल, आओ, आहोम, खामटी, फाकियाल, नरा, आइटनिया, तुरुंग, खामजंग, खासी आदि।''[1] यहाँ अभी कुछ प्रमुख जातियों के ही नाम गिनाये गये हैं, यहाँ बाद में विभिन्न राजाओं ने अपने राज्य में भारत के अन्य क्षेत्रों से, ब्राह्मणों तथा कायस्थ आदि जाति के लोगों को लाकर बसाया गया था।

'कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय का असम परस्पर विरोधी आचार- विचार वाली जातियों, उप-जातियों का मकड़जाल था। इस कारण से भी वहाँ परस्पर शांति एवं सद्भाव नहीं था। इन सभी को एक सूत्र में पिरोने के लिए और असमिया समाज नामक एक अलग सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक पहचान को निर्मित करने के लिए, एक ऐसे विचार तत्व की आवश्यकता थी, जो सभी को स्वीकार हो। यह इतना सरल कार्य नहीं था, क्योंकि डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' ने डॉ. विजयेंद्र स्नातक के इस मत से सहमति व्यक्त करते हुए लिखा है कि ''इस प्रदेश में बसने वाली जातियों में जितना वैविध्य और वैचित्र्य मिलता है कि शायद भारत में ही नहीं, विश्व के किसी भी प्रदेश में इतनी जातियों का एक ही स्थान पर समागम ना हुआ होगा। वैदिक युग के आर्य, असुर, यक्ष, राक्षस, पौराणिक युग के गंधर्व, नाग, किन्नर, गरुण, पिशाच, मध्य युग के यमन, शक, कुशाण, नाग, आदिवासी और कबीले की विविध जातियां असम से निवास करती रही हैं जिनके खान-पान, धार्मिक विश्वास, रीति' रिवाज, में बहुत भेद है।''[2] इस भेद में अभेद स्थापित करना कोई आसान काम नहीं था, क्योंकि यदि किसी एक के आचार - विचार, संस्कार, संस्कृति को सभी के ऊपर थोपने की कोशिश होती, तो दूसरी जातियों द्वारा इसका विरोध स्वाभाविक था। अतः इस पर मौलिक ढंग से विचार करके, कुछ ऐसा विचार, उपासना पद्धति, सामाजिक, सांस्कृतिक, मान्यताओं को विकसित करना था, जो सभी को स्वीकार हो सके।

सामाजिक स्थिति की तरह धार्मिक क्षेत्र में भी चुनौतियां कम नहीं थी। इस समय जितनी जातियाँ थी। लगभग उसी अनुपात में उनकी अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताएं, पूजा-पाठ और कर्मकांड थे, जो धार्मिक विकृति के साथ-साथ सामाजिक विकृति के भी कारण थे। इस संबंध में डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' जी का विचार है कि ''शंकरदेव कालीन असम जैसे राजनीतिक दृष्टि से विशृंखल और रूढ़ियों से अभिशप्त था, वैसे ही बीसों प्रकार की पूजा-उपासना-पद्धतियों का भी अड्डा बना हुआ था।''[3] इसमें शैव, शाक्त, वैष्णव सभी थे। लेकिन इस क्षेत्र में शाक्तों का प्रभाव अधिक था।

शाक्त संप्रदाय का बोलबाला होने के कारण, इस साधना पद्धति में अनेकों प्रकार के व्यभिचार व्याप्त थे, जो धार्मिक विकृति के साथ - साथ सामाजिक विकृति के भी कारण थे क्योंकि धर्म किसी भी समाज की धुरी होती है, यदि इसमें विकृतियां होंगी तो सामाजिक विकृति होगी ही। यहाँ के प्रमुख शक्ति पीठों में भी 'वामाचार साधना पद्धति एवं तांत्रिकों का ही प्रभुत्व था। ''शक्ति पीठों में कामाख्या सर्व प्रसिद्ध रहा है। यहाँ शक्ति के विभिन्न रूपों के अतिरिक्त विभिन्न जन

-जातियों की देवियों की पूजा, वामाचार एवं तांत्रिक विधि से होती रही है।''[4] इसके लिए बाकायदा तांत्रिक ग्रंथों की रचना भी की गई थी। 'कलिकापुराण' और 'योगिनी तंत्र' वामाचारियों के ग्रंथ हैं। इससे पता चलता है कि शंकरदेव से पहले के असम तथा उनके समय में भी इन तांत्रिकों एवं वामाचारियों की जड़ें, उस परिवेश में कितनी गहराई तक थीं।

ज्यादा विस्तृत रूप से तो नहीं, लेकिन धार्मिक क्षेत्र में फैली विद्रूपता को उद्घाटित करने के लिए कुछ बातों को ध्यान में रखने की आवश्यकता है। 'योगिनी तंत्र' नामक ग्रंथ में 'योनि पूजा' और 'कुमारी पूजा' की विस्तृत चर्चा है। इसके साथ ही ''नगाँव से प्राप्त' 'उमा आलिंगन' की एक मूर्ति (10 वी शती) गुवाहाटी म्यूज़ियम में देखी जा सकती हैं। जिसमें शिव और उमा पूर्णतः नग्न दिखाये गये है।''[5] ऐसा कोई एक चित्र नहीं है। बल्कि उस समय हिंदू धर्म के अनेक देवी-देवताओं की ऐसी नग्न मूर्तियां बनाई गई हैं। ''देवद्वार के पास ही एक पहाड़ी पर 'मदन - कामदेव' के भग्न मंदिर में रति और कामदेव नग्न और आलिंगनबद्ध ही दिखाये गये हैं।''[6] यह वामाचारियों द्वारा स्थापित धार्मिक स्थापत्य कला के कुछ नमूने हैं।

स्थापत्य कला के साथ- ही - साथ इसकी साधना पद्धति में भी कम विद्रूपता नहीं है। 'कालिका पुराण' में 'शबरोत्सव' का वर्णन हुआ है- ''शबरोत्सव में वेश्याओं, देव-नटियों आदि के साथ साधक रात्रि-जागरण करता था। दसवें दिन स्त्री-पुरुषों के गुप्तांगों के नामोच्चार सहित श्रृंगार-सज्जित रमणियों के मध्य अश्लील गीत गाए जाते थे।''[7] धर्म के नाम पर जितनी भी तरह की विकृतियाँ हो सकती हैं, वह सभी व्याप्त थीं। '''योगिनी तंत्र' में पंच मकार आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। वामाचार में रमणी मैथुन आवश्यक है। मैथुन हेतु रमणी की प्राप्ति सुगमतापूर्वक ना होने पर धन देकर अथवा बलात प्राप्त करने का विधान है।''[8] क्योंकि धर्म भीरू समाज में अपनी वासना की तृप्ति के लिए इससे सुगम मार्ग और कोई नहीं हो सकता था। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि ''मातृ योनि परित्यज्य मैथुन सर्वयोनिषु।''[9] बस माता की योनि छोड़कर सभी योनि से मैथुन किया जा सकता है।

धर्म के ही नाम पर पशु-बली आदि की प्रथा तो प्रचलित थी ही, साथ में नर बलि भी उक्त समय में बहुतायत में प्रचलित थी। उस समय के तांत्रिकों एवं वामाचारियों के ग्रंथों में इसके प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है। विभिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न अवसरों पर नर-बलि का प्रावधान है। ''मनसा देवी की वार्षिक पूजा में राभा नामक जाति एक बालक और एक बालिका की बलि देती थी। खासी जाति में उथलेन नामक सर्प देवता के नाम पर नर बलि का विधान था।''[10] नर बली में भी व्यभिचार समाहित था। कुछ जातियों में नर-बलि के लिए जो अपने आप को प्रस्तुत करता था। उसे अपनी वासना की तृप्ति के लिए स्वेच्छाचार की छूट थी। ''आई नाम की वार्षिक पूजा में जो व्यक्ति अपने को बलि के लिए उत्सर्ग करता था।... संभोग के लिए वह जिस स्त्री की इच्छा करता था। उस स्त्री को उसके आगे समर्पित करना पड़ता था।''[11] जीवों की बलि, रुधिर तथा मांस अर्पित करना तो आम बात थी। इसके अलावा वैष्णव धर्म एवं पूजा पद्धति भी प्रचलित थी। लेकिन शाक्तों के जितना उस क्षेत्र में प्रभावशाली नहीं थे। उस समय में वहाँ वैष्णव पूजा - पाठ भी तांत्रिक पद्धति से ही की जाती थी।

शंकरदेव के सामने पूरे पूर्वोत्तर भारत को विकृत धार्मिक, सामाजिक, विकृतियों, विद्रूपताओं से मुक्त कराना आसान नहीं था। यदि उस समय के असम में कोई धर्म नहीं होता, तब तो उन्हें अपने धार्मिक, सामाजिक विचारों को प्रचारित, प्रशारित करने में कोई कठिनाई नहीं होती। लेकिन शाक्तों का एक मजबूत धार्मिक, सामाजिक आधार था, जिसकी जड़ें उक्त समाज में गहरे तक धंसी हुई थीं। इसे उखाड़ फेंकना तो दूर, हिला पाना भी कम चुनौतीपूर्ण नहीं था। ऐसे परिवेश में जहाँ स्वयं उनका परिवार भी शाक्त मतावलंबी था। परिवार में भी बलि प्रथा इत्यादि कुप्रथा प्रचलित थी। ऐसे पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, चुनौतियों से भरे परिवेश में, शंकरदेव ने नवीन विचारों और धार्मिक, सामाजिक नियम एवं सिद्धांतों को प्रतिपादित किया।

यह नवीन धार्मिक, सामाजिक सिद्धांत, विचार, साधना पद्धति वैष्णव धर्म पर ही आधारित है। लेकिन इसका जैसा स्वरुप उत्तर भारत में मिलता है, वह वैसा ही शंकरदेव के यहाँ नहीं है। शंकरदेव ने अपने समय एवं समाज की धार्मिक, सामाजिक चुनौतियों का सामना करने के लिए उसमें परिवर्तन किया है। यह परिवर्तन ही शंकरदेव की मौलिक देन है। 'एकशरणिया' धर्म जिस में द्वैत और अद्वैत, सगुण और निर्गुण, सभी का सम्मलित रूप है। देवताओं में विष्णु इसके केंद्र में हैं तथा कृष्ण का चरित्र इसका आधार हैं। धर्म ग्रंथों में 'भागवत' एवं 'गीता' को ही इन्होंने श्रेष्ठ मानकर इसी के आधार पर अपनी रचनाएं इन्होंने कीं। शंकरदेव ऐसा इसलिए कर पाए क्योंकि इन्होंने बारह वर्षों तक संपूर्ण भारत के विभिन्न धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थलों का भ्रमण किया। इस क्रम में वे भारत के विभिन्न भागों में स्थित प्रमुख धार्मिक तीर्थ स्थलों में भी वो गए, तथा वहाँ प्रचलित धर्म तथा धर्म ग्रंथों का उन्होंने अध्ययन मनन किया। जिससे उनकी चेतना संपूर्ण भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित हुई। शंकरदेव के विचारों की निर्मित में संपूर्ण भारत भ्रमण के द्वारा जो उत्तम और उज्ज्वल उन्हें लगा, उसे उन्होंने स्वीकार कर अपने समय और समाज में स्थित चुनौतियों का उन्होंने सामना किया।

शंकरदेव असम और पूर्वोत्तर भारत के लिए एक तरह से सामाजिक और सांस्कृतिक सूत्रधार बने। इन्होंने अपने धार्मिक एवं साहित्यिक रचनाओं के द्वारा भारतीय संस्कृति एवं परंपरा को वहाँ और मजबूत किया, क्योंकि ''वर्ण्य विषय और विचार भूमि की दृष्टि से एक राष्ट्र की जो समान आकांक्षाए हो सकती हैं, उनमें शंकरदेव उनके मूल तक पहुँचते हुए दिखायी पड़ते हैं। उनके सर्व भारतीय रूप को अग्रसारित करते हैं।''[12] शंकरदेव के द्वारा प्रचारित वैष्णव धर्म तथा उनके द्वारा लिखित धार्मिक, साहित्यिक रचनाएं अपने समय में प्रचलित विभिन्न प्रकार के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक चुनौतियों का प्रतिकार तो करती ही हैं।

साथ में असम तथा उसके आस - पास के क्षेत्रों को संपूर्ण भारत से सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक स्तर पर जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य भी करती हैं। शंकरदेव तथा उनके बाद माधवदेव आदि बाद के संतों के प्रयासों के कारण ही संपूर्ण पूर्वोत्तर का क्षेत्र आज भारत का महत्वपूर्ण अंग है।

इस तरह से शंकरदेव द्वारा रचित धार्मिक, साहित्यिक ग्रंथों को उनके समय एवं समाज से अलगाकर नहीं देखा जा सकता है। 'बरगीत' भी इससे अछूते नहीं हैं। भगवत भक्ति करना तो इसका उद्देश्य है ही, साथ में इसके सामाजिक सांस्कृतिक उद्देश्य भी हैं। अतः जैसे सूरदास के गोपी-उद्धव संवाद का एक उद्देश्य हैं, वैसे ही शंकरदेव के द्वारा रचित गोपी-उद्धव संवाद का भी उद्देश है। इस पर विचार करने से पहले सूरदास के समय एवं तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है।

सूरदास की तत्कालीन परिवेश और राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि स्थितियों की जानकारी साहित्य के लगभग सभी जागरूक पाठकों को है, क्योंकि सूरदास के संबंध में बहुत कुछ पढ़ा लिखा गया है। वे अष्टछाप के कवियों में से एक है और ये श्रीनाथ जी के मंदिर में नित्य भजन - कीर्तन किया करते थे। पूरे भक्तिकाल के बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा है। ''देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह उत्साह नहीं रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराए जाते थे, देव मूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में वे अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे।... इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''[13] यह एक ऐतिहासिक स्थिति है। इसे हम बदल या झुठला नहीं सकते। यह सच भी है। इसे स्वीकार करना होगा। हो सकता है विपरीत परिस्थितियों में यहीं से कुछ नई ऊर्जा का संचार होता हो।

सूरदास के द्वारा रचित सूरसागर अद्वितीय ग्रंथ है इसकी रचना 'भागवत' की कथा के आधार पर की गई है। लेकिन उस के अंतर्गत वर्णित 'भ्रमरगीत' या गोपी - उद्धव संवाद में, ज्ञान और भक्ति को लेकर उद्धव एवं गोपियों का तर्क- वितर्क उनकी अपनी मौलिक देन है। वे इस प्रसंग के द्वारा ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। अतः इसके लिए सूरदास ने भागवत पुराण में से गोपी - उद्धव संवाद को लेकर अपने समय की जरूरत और अपनी बात को कहने के लिए उसमें जोड़-तोड़ करते हैं।

इस ज्ञान एवं भक्ति के द्वंद्व को प्रदर्शित करने के पीछे उनका उद्देश्य था। वह उद्देश्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी द्वारा लिखे गए इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है। ''ज्ञान की कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावलि का यदि साधारण लोगों में विशेष प्रचार हो तो अव्यवस्था फैलने लगती है। निर्गुण पंथ ईश्वर की सर्वव्यापकता, भेदभाव की शून्यता सब मतों की एकता आदि को लेकर आगे बढ़ा, जिस पर चलकर अपढ़ जनता ज्ञान की अनगढ़ बातों और योग के टेढ़े-मेढ़े अभ्यासों को ही सब कुछ मान बैठी तथा दम्भ, अहंकार आदि दुरवृत्तियों से उलझने लगी।''[14] सूरदास के द्वारा रचित भ्रमरगीत के मूल में ये समस्याएं जरूर है। इनके मन-मस्तिष्क में अपने समय में प्रचलित योगमार्ग और ज्ञानमार्ग की विकृतियां जरुर थीं। इसीलिए इन्होंने भ्रमरगीत की रचना की तथा भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता स्थापित की। जिसमें भक्त एवं भगवान दोनों ही भाव के धरातल पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। संयोग का सुख एवं वियोग की पीड़ा दोनों को ही महसूस होती है।

कृष्ण जब मथुरा चले जाते हैं तब गोप-गोपियां तो उदास हैं ही, कृष्ण को भी मथुरा में ब्रज के गोप-गोपियों, नंदराय, यशोदा माता सभी की याद सताती है। यहाँ भक्त एवं भगवान दोनों का मन एक है, हृदय की रागात्मिका वृत्ति एक है। कृष्ण उद्धव के द्वारा अपना संदेश देने और उनका कुशल-क्षेम जानने के लिए उन्हें ब्रज में भेजते हैं। जो ज्ञानमार्ग को महत्व देने वाले हैं। इसके पीछे उद्धव के ज्ञान गर्व को दूर करने का उद्देश्य तो है ही, साथ में अपने प्रेमी जनों, भक्तों की सुधि लेना कृष्ण का उद्देश्य है। वे उद्धव को ब्रज भेजते हुए कहते हैं-

''उद्धव! वेगि ही ब्रज जाहु।
सुरति संदेश सुनाय मेटो बल्लभिन को दाहु।।
अजौं लौं यहि भांति ह्वैहै कछुक सजग सरीर।
इतै पर बिनु समाधाने क्यों धरै तिय धीर ।।
कहौं कहा बनाय तुमसो सखा साधु प्रवीन?''
सूर सुमति विचारिक क्यौ जिये जल बिनु मीन।।''[15]

यहाँ भक्त की चिंता भगवान को भी है, भक्त की भी अनन्य निष्ठा अपने भगवान में है। गोपियां उद्धव के द्वारा बताये गये ज्ञानमार्ग का तरह-तरह से उपहास उड़ाती हैं। उन्हें ज्ञानी नहीं बनना है। वे तो बस अपने प्रिय, अपने ईश्वर को चाहती हैं, उनका साथ चाहती हैं। गोपियों की भक्ति का मार्ग बिल्कुल सीधा, सरल और सपाट है। इसी सहज भक्ति के मार्ग को सूरदास प्रचारित, प्रसारित करते हैं। जिसमें किसी भी प्रकार के हठयोग एवं वामाचार की जरुरत नहीं है। गोपियां उद्धव से कहती है-

''हमसे कहत कौन की बाते ?
सुनि उधोः हम समुझत नाहीं फिरि पूछति है तातें।।
को नृप भयो कंस किन मारयो को वसुधौ सुत आहि?
यहाँ हमारे परम मनोहर जीजतु है मुख चाहि।।
दिन प्रति जात सहज गोचारन गोप सखा लै संग।
बासरगत रजनी मुख आवत करत नयन गति पंग।।
को व्यापक पूरन अविनासी, को बिधि-वेद-अपार ?
सूर वृथा बकवाद करत हौ या व्रज नंद कुमार।।''[16]

इस प्रकार से सूरदास जी ने कृष्ण भक्ति के द्वारा, निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति में से, सगुण भक्ति की श्रेष्ठता को स्थापित किया। इन्होंने अपने आराध्य देव की विभिन्न लीलाओं का गायन कर, ईश्वर के प्रेममय रूप को आम जनता के हृदय में स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में ठीक ही लिखा है कि ''मनुष्यता के सौंदर्यपूर्ण और माधुर्य

पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक भक्त कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।''[17] इस दृष्टि से सूरदास का काव्य द्वितीय है। इन्होंने 'वात्सल्य' एवं 'शृंगार' के अद्भुत रुप अपने गीतों में उकेरे हैं। जो विश्व साहित्य में अद्वितीय हैं। सूरदास के भ्रमरगीत अथवा गोपी - उद्धव संवाद का उद्‌देश्य लगभग यही है।

लेकिन शंकरदेव के द्वारा लिखे गये भक्तिपरक ग्रंथों का उद्‌देश्य इससे कहीं अधिक व्यापक है। 'बरगीतों' की रचना को भी इसी वृहद् उद्‌देश्य के अंतर्गत ही समझा जाना चाहिए। शंकरदेव असम या यह कहें कि समूचे पूर्वोत्तर क्षेत्र को वामाचार, तंत्रवाद, जादू-टोना, सामाजिक अराजकता से मुक्त कराना चाहते थे। जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। शंकरदेव को 'नव्य वैष्णव भक्ति' की यह अंतर्दृष्टि उनके भारत भ्रमण की देन है। जिसमें वृंदावन का महत्वपूर्ण योगदान है। डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' ने ठीक ही लक्षित किया है कि ''अनुमान किया जाएगा कि शंकरदेव के यात्रा काल में वृंदावन का महत्व चाहे स्थापित न हुआ हो, पर कृष्ण भक्ति के गीत वहाँ गाये जाते होंगे। भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से बरगीतों को वृंदावन के आसपास गाए जाने वाले कृष्ण भक्ति के गीतों की परंपरा का मानना अधिक उपयुक्त होगा।''[18] इस कथ्य के आलोक में बरगीतों में संगृहीत गोपी-उद्धव संवाद का जब अध्ययन, विश्लेषण करते हैं, तब पाते हैं कि उसमें कृष्ण भक्ति से संबंधित गाये जाने वाले गीतों की परंपरा का निर्वाह हुआ है।

शंकरदेव ने मात्र परंपरा का ही निर्वहन नहीं किया है, बल्कि इस प्राप्त हुई परंपरा का उपयोग रचनात्मक ढंग से किया है। वे इसका उपयोग अपने समय और समाज में प्रचलित विभिन्न प्रकार के सामाजिक, धार्मिक बुराइयों से लोगों को मुक्त कराने के लिये करते है तथा भक्ति के सुगम और सरल मार्ग की और समाज को प्रवृत्त करना चाहते हैं, जिससे धार्मिक परिष्कार के साथ-ही-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक परिष्कार हो सके।। इसी कारण से शंकरदेव के यहाँ समस्त वैष्णव धर्म एवं आदर्श विरोधी, आचार-विचार और सामाजिक, सांस्कृतिक रीतियों, नीतियों का विरोध दिखाई देता है। उन्होंने 'भाव की भक्ति' को कृष्ण के लीला गान के माध्यम से स्थापित किया। जहाँ भक्त और भगवान 'भाव' के एक ही धरातल पर जुड़े हुए हैं। दोनों को ही एक दूसरे की चिंता है। इसमें किसी भी प्रकार के वामाचार, तंत्र-मंत्र की जरूरत नहीं है।

सूरदास के यहाँ गोपी-उद्धव संवाद का उद्‌देश्य स्पष्ट है। शंकरदेव के यहाँ बरगीतों में भले ही मुखर रूप से वामाचारियों एवं तांत्रिकों का उस तरह से खुले तौर पर मुखरता से विरोध देखने को न मिलता हो, लेकिन इसका उद्‌देश्य भी तांत्रिकों और वामाचारियों की साधना पद्धति का विरोध करना ही है। शंकरदेव के यहाँ वर्णित गोपी-उद्धव संवाद की भावुकता और रागात्मकता समूचे वामाचार और तंत्रवाद का प्रतिरोधी है। भक्ति का प्रेममय रूप निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है-

'''ध्रुवक' उद्धव बंधु मधुपुरी रहल मुरारु।
काहे नाहेरि रहब, अब, जीवन,
बन भयो भवन हमारू।।
पद-जाहे वियोगे, आगि, अंग तावय
तिल एकु रहये न पारि।
सोहि ब्रज सूर, दूर गयो गोविंद,
दिस, दस दिवसे आंघारिह्न।।''[19]

यहाँ गोपियों की वेदना का चित्रण किसी भी तरह से सूरदास के चित्रण से कमतर नहीं है। शंकरदेव ने हृदय की कोमल वृत्तियों की अभिव्यक्ति को बड़ी ही सरलता से प्रस्तुत पंक्तियों में व्यक्त किया गया है। यहाँ बाह्य एवं आंतरिक प्रकृति का चित्रण इस रूप में किया गया है, मानों दोनों ही एक दूसरे के साहचर्य में ही पल्लवित हो रहे हों। मनुष्य के सुख-दुख में प्रकृति सदैव सहचरी के रूप में रही है। शंकरदेव के चित्रण में भी गोपियों के दुख में मानों प्रकृति भी दुःखी है-

''देखत कालिंदी गिरि बिरिंदावन।
तनु मनु दहये सदाय।।
ब्रज-जन-जीवन बहुरि नाहि आवत।
हामाकु करत अनाथा ।।
गोपिनि प्रेम परसि निर झुरये।
शंकर कह गुण गाथा।।''[20]

ऐसे अनेकानेक चित्र शंकरदेव के बरगीतों में भरे पड़े हैं। एक बात ध्यान देने की है कि शंकरदेव के गोपी-उद्धव संवाद में निर्गुण और सगुण को ले करके तर्क-वितर्क उतना नहीं है, जितना सूरदास के भ्रमरगीत में हैं। यहाँ ह्दय के कोमल भावों का ही चित्रण अधिक हुआ है। शंकरदेव के यहाँ कृष्ण उद्धव को ब्रज उनका ज्ञान गर्व दूर करने के लिए नहीं भेजते। बल्कि गोप-गोपियों के दुख को सीमित करने के लिए भेजते हैं, साथ ही अपने मन की व्यथा भी उन तक पहुँचाते हैं-

''ध्रुवक-नाहि सुहृद मोहे गोपिनी समान।
ताहेर दुःख सुनि चुटे मेरि प्राण।।
पद-ए उद्धव चल गोकुलक लाइ।
समरिते मोहे गोपिनीक जीव जाइ।।
हामाकु सपत सांत करु ब्रजनारि।
बोलिते कमल नयने झुरे बारि।।''[21]

इस तरह की पंक्तियों को जब ध्यान में लाते हैं तो शंकरदेव का उद्‌देश्य समझने में ज्यादा कठिनाई नहीं होती। वे असम और उसके आस-पास के क्षेत्रों में फैली धार्मिक, सामाजिक विकृतियों, जिसके मूल में शाक्तों के वामाचार और कर्मकांड हैं। उसको अपने समाज से मिटा देना चाहते थे, क्योंकि ''तत्कालीन वेद-विरोधी परिवेश की बहुलता को शंकरदेव ने पूरी गहराई से लक्ष्य किया था। उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के प्रभाव उनके काव्य में दिखायी पड़ते हैं।''[22] शंकरदेव के गोपी-उद्धव संवाद का परोक्ष उद्‌देश्य तत्कालीन परिवेश में तांत्रिकों एवं वामाचारियों का विरोध करना ही है, क्योंकि कृष्ण की भक्ति में किसी भी प्रकार के वामाचार और तंत्र-मंत्र के लिए कोई जगह नहीं है।

शंकरदेव की चिंता मात्र धार्मिक क्षेत्र में फैली विकृतियों को लेकर ही नहीं है। उनके महत उद्‌देश्य की पूर्ति के लिये धर्म एक प्रकार से साधन का कार्य करता है। साध्य तो संपूर्ण असम और उसके आस-पास के क्षेत्रों में फैली विभिन्न प्रकार की सामाजिक, सांस्कृतिक, जातीय विकृतियाँ

हैं, जिसके प्रति वह संघर्षशील रहे हैं। इसी साध्य की पूर्ति करने के लिए वे 'नव्य वैष्णव धर्म', 'एकशरणिया धर्म', सत्रों की स्थापना आदि धार्मिक, सामाजिक कार्य करते हैं। इस कारण भी शंकरदेव के साहित्य में विषयगत विविधता है। सूरदास के यहाँ इतनी विविधता नहीं है। इनके संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि ''सूरदास जी अपने भाव में मग्न रहने वाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नहीं। संसार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है इन बातों की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है।''[23] लेकिन शंकरदेव अपने समय एवं समाज में फैले आनाचार, अत्याचार, धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र में फैली विकृतियों से व्यथित है। वे इसे दूर करने का क्रांतिकारी प्रयास करते हैं। अपने धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक कार्यों के द्वारा लोगों में चेतना जगाने का कार्य करते हैं। इस संबंध में शंकरदेव की तुलना तुलसीदास जी के साथ की जा सकती है।

शंकरदेव ने 'नव्य वैष्णव धर्म' और 'सत्रों' की स्थापना के द्वारा असम और असमिया समाज को एक नयी पहचान दी। असम और उसके आसपास के क्षेत्रों को संपूर्ण भारतीय संस्कृत से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया। 'धर्म' संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है, इसे अलग करके नहीं देखा जा सकता है। उन्होंने भारत भ्रमण के दौरान धर्म, दर्शन के ज्ञान के साथ ही साथ सांस्कृतिक अनुभवों को भी प्राप्त किया था। जिसका उपयोग उन्होंने अपने समाज को एकीकृत करने के लिए किया। ''विभिन्न संस्कृतियों के समन्वयन और जातियों के पारस्परिक मेल से एक अपेक्षाकृत नवीन भारतीय संस्कृति के विकास में समकालीन असम की जो भूमिका रही है। उसके बहुत बड़े पुरस्कर्ता रहे हैं 'शंकरदेव'।''[24] इन्हीं के प्रयासों से असम और पूर्वोत्तर में भारतीय संस्कृति लोगों की रगों में समाहित है। इन्हीं के प्रयासों से वहाँ के लोगों में राष्ट्रीयता की भावना अपने गहरे संदर्भों में विद्यमान है। आज जरुरत शंकरदेव जैसे महान संतों के द्वारा किए गए कार्यों को, राष्ट्रीय फलक पर प्रचारित, प्रसारित करने की है। जिससे इनका महत्व समस्त राष्ट्र के सम्मुख स्थापित हो सके।

उपसंहारः-

शंकरदेव के आध्यात्मिक चिंतन और सांस्कृतिक भाव बोध के द्वारा आज संपूर्ण असम और पूर्वोत्तर भारत राष्ट्र का एक अभिन्न अंग है। शंकरदेव के द्वारा स्थापित 'सत्र व्यवस्था' आज भी भारतीय धार्मिक परंपराओं तथा संस्कृतियों का ध्वज वाहक है। यह बिल्कुल ही भ्रांत धारणा है कि अंग्रेजों के भारत आने से पहले यहाँ के लोगों में राष्ट्र और राष्ट्रीयता का कोई बोध नहीं था। भारत और यहाँ के निवासी सदियों से धार्मिक सांस्कृतिक रूप से आपस में जुड़े हुए थे और इसी रूप में हमारे भीतर राष्ट्रीयता और राष्ट्र का बोध रहा है। जिसे निरंतर प्रचारित-प्रसारित करने का कार्य भक्तों और संतों ने किया। आजादी के बाद विभिन्न ज्ञान के प्रतिष्ठानों पर 'वामाचारियों' या 'मार्क्सवादियों' का ही प्रभुत्व रहा। इन्होंने इतिहास को अपने तरीके से तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया। इन्होंने साम्राज्यवादियों की ही तरह यहाँ के धर्म, सामाजिक, सांस्कृतिक नीतियों - रीतियों का उपहास उड़ाया। इस तरह से ये साम्राज्यवादियों के हितों का ही पोषण करते रहे हैं और आज भी अपनी प्रेरणा वहीं से ग्रहण कर रहे हैं। आज जरूरत इतिहास को नये तरीके से लिखने की है। जिससे शंकरदेव जैसे इतिहास पुरुषों के महत्व और योगदान को स्थापित किया जा सके।

पूर्वोत्तर के साथ अपने सामाजिक सांस्कृतिक संबंधों को और मजबूत बनाए रखने के लिए, यह आवश्यक है कि शंकरदेव जैसे और संतों, भक्तों तथा संपूर्ण भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को असम में फैलाने वाले, महत्वपूर्ण व्यक्तियों, विद्वानों, साहित्यकारों तथा उनके साहित्य का अध्ययन विश्लेषण किया जाय। जिससे आपसी संबंध और मजबूत होंगे और राष्ट्र को मजबूती प्राप्त होगी। यह तुलनात्मक अध्ययन इसी महत उद्देश्य की एक कड़ी है।

संदर्भः-

1. महाकवि शंकरदेव 'डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद' 'मागध', पृ. 96-97
2. वही पृ. 97
3. वही पृ. 101
4. वही पृ. 104
5. वही पृ. 104
6. वही पृ. 105
7. वही पृ. 105
8. वही पृ. 105
9. वही पृ. 105
10. वही पृ. 106
11. वही पृ.106
12. वही पृ. 119
13. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 60
14. 'भ्रमरगीत' 'सार' - आचार्य रामचंद्र शुक्ल, वक्तव्य - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.1
15. वही पृ. 5
16. वही पृ. 10
17. वही पृ. 2 (महाकवि सूरदास जी, आलोचना)
18. महाकवि शंकरदेव, डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद, 'मागध', पृ.118
19. महापुरुष शंकरदेव, ब्रजबुलि, ग्रंथावली, डॉ. लक्ष्मीशंकर गुप्त, पृ. 371
20. वही पृ. 372
21. वही पृ. 375
22. महाकवि शंकरदेव, कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', पृ. 118
23. भ्रमरगीत, सार पृ. 48
24. महाकवि शंकरदेव, डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', पृ. 118

ई. मेल- vijaym2004du@gmail.com

❖❖❖

महान संत श्रीमंत शंकरदेव और असम की सत्र परंपरा

वीरेन्द्र परमार

पूर्वोत्तर के साहित्य, संस्कृति, समाज व अध्यात्मिक जीवन में युगांतरकारी महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव का अवदान अविस्मरणीय है। उन्होंने पूर्वोत्तर क्षेत्र में एक मौन अहिंसक क्रांति का सूत्रपात किया। उनके महान कार्यों ने इस क्षेत्र में सामाजिक- सांस्कृतिक एकता की भावना को सुदृढ़ किया। उन्होंने रामायण और भागवत का असमिया भाषा में अनुवाद किया। पूर्वोत्तर क्षेत्र में वैष्णव धर्म के प्रसार के लिए आचार्य शंकरदेव ने बरगीत, नृत्य-नाटिका (अंकिया नाट), भाओना आदि की रचना की। उन्होंने गाँवों में नामघर स्थापित कर पूर्वोत्तर क्षेत्र के निवासियों को भाईचारे, सामाजिक सद्भाव और एकता का संदेश दिया। श्रीमंत शंकरदेव का जन्म 1449 में वर्तमान नगाँव जिले के बरदोवा के निकट अलीपुखुरी में हुआ था। बचपन में ही उनकी माता सत्य संध्या का निधन हो गया। उनके पिता का निधन भी बचपन में हो गया था और उनकी दादी ने उनका पालन-पोषण किया। उन्होंने 13 साल की उम्र में अपनी स्कूली शिक्षा शुरू की और 17 वर्ष की आयु तक अपनी शिक्षा पूरी कर ली। उन्होंने बचपन में ही अपनी बुद्धिमत्ता और प्रतिभा से लोगों को चमत्कृत कर दिया था। उनकी शादी जल्द हो गई थी, लेकिन शादी के तीन वर्ष बाद ही उनकी पत्नी का निधन हो गया। इसके बाद वे ज्ञान की तलाश में उत्तर भारत की तीर्थ यात्रा पर निकल पड़े। उन्होंने 32 वर्ष की उम्र में विरक्त होकर प्रथम तीर्थयात्रा आरंभ की और उत्तर भारत के समस्त तीर्थों के दर्शन किए। तीर्थयात्रा से लौटने के पश्चात शंकरदेव ने 54 वर्ष की उम्र में कालिंदी से विवाह किया। तिरहुतिया ब्राह्मण जगदीश मिश्र ने बरदोवा जाकर शंकरदेव को भागवत सुनाई तथा उन्हें भागवत ग्रंथ भेंट किया। शंकरदेव ने जगदीश मिश्र के स्वागतार्थ 'महानाट' के अभिनय का आयोजन किया। कर्मकांडी विप्रों ने शंकरदेव के भक्ति प्रचार का घोर विरोध किया। दिहिंगिया राजा से ब्राह्मणों ने प्रार्थना की कि शंकर वेद विरुद्ध मत का प्रचार कर रहा है। कुछ प्रश्न पूछकर उनके उत्तर से संतुष्ट होने के उपरांत राजा ने इन्हें निर्दोष घोषित कर दिया। इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। 97 वर्ष की अवस्था में इन्होंने दूसरी बार तीर्थयात्रा आरंभ की। उन्होंने कबीर के मठ के दर्शन किए तथा उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इस यात्रा के पश्चात वे बरपेटा वापस चले आए। कोच राजा नरनारायण ने शंकरदेव को आमंत्रित किया। शंकरदेव के वैष्णव संप्रदाय का मत एकशरण है। इस धर्म में मूर्तिपूजा की प्रधानता नहीं है। धार्मिक उत्सवों के समय केवल एक पवित्र ग्रंथ चौकी पर रख दिया जाता है। इसे ही नैवेद्य तथा भक्ति निवेदित की जाती है। इस संप्रदाय में दीक्षा की व्यवस्था नहीं है। तीर्थयात्रा से लौटने के बाद श्रीमंत शंकरदेव माजुली द्वीप में बस गए और वैष्णव धर्म का प्रचार करना शुरू कर दिया। वे कर्मकांड, अर्थहीन संस्कार और अनुष्ठानों के खिलाफ थे तथा लोगों को धर्म के सरल मार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करते थे। उनका मानना था कि सभी मनुष्यों में एक ही सर्वोच्च आत्मा विद्यमान है। उन्होंने सभी प्रकार के वर्ग भेद और मानव निर्मित सामाजिक बाधाओं का पुरजोर विरोध किया। उन्होंने संगीत और भजन गायन के महत्व को प्रमुखता से रेखांकित किया। अलीपुखुरी असम के लोगों के लिए एक पुण्य भूमि है। बरदोवा सत्र का असम में विशेष महत्व है। यहाँ एक कीर्तन घर है। जिसके निकट पत्थर का एक टुकड़ा रखा है। इस पत्थर को पादशिला के नाम से जानते हैं। ऐसा विश्वास है कि इस पर श्रीमंत शंकरदेव के पद चिह्न अंकित हैं। यहाँ पर होली का त्योहार और वैष्णव संतों की जयंती व पुण्य-तिथि धूम-धाम से आयोजित की जाती है। श्रीमंत शंकरदेव बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे असम के महान समाज सुधारक, नाटककार, अभिनेता, संगीत मर्मज्ञ और लेखक थे। शंकरदेव गृहस्थ परंपरा के संत थे। उन्होंने विवाह किया और गृहस्थ आश्रम में रहते हुए संत के रूप में अपना जीवन निर्वाह किया। अपने शिष्यों के लिए भी उन्होंने ऐसा ही संदेश दिया। इसलिए शंकरदेव के अनुयायी विवाह करते हैं, संतान उत्पन्न करते हैं और संत जैसा जीवन व्यतीत करते हैं। उनके अनुयायी रासलीला, नृत्य संगीत और नाटक भी करते हैं। माजुली द्वीप से शंकरदेव का अन्योन्याश्रय संबंध है। सन् 1568 ई. में उनका देहान्त हो गया। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं- हरिश्चंद्र उपाख्यान, भक्तिप्रदीप, रुक्मिणी हरण, कीर्तन घोषा, अजामिलोपाख्यान, अमृतमंथन, आदिदशम, कुरुक्षेत्र, गुणमाला, भक्तिरत्नाकर, विप्रपत्नीप्रसाद, कालिदमनयात्रा, केलिगोपाल, रुक्मिणीहरण नाटक, पारिजात हरण, रामविजय आदि। शंकरदेव के वैष्णव संप्रदाय का मत एकशरण है। इस धर्म में मूर्तिपूजा को महत्व नहीं दिया गया है। इसे केवलीया या महापुरुषीया धर्म भी कहते हैं। उन्होंने मूर्तिपूजा के बदले भगवान के नाम को अधिक महत्व दिया है। इसलिए नामघरों में मूर्तिपूजा नहीं होती। श्रीमंत शंकरदेव ने असम के लोगों को अशिक्षा और अंधविश्वास से दूर रहने की शिक्षा दी और ज्ञान का सच्चा स्वरूप दिखाया। आज भी असम के नामघरों में मणिकूट (गुरु आसन) पर शंकरदेव रचित कीर्तन घोषा श्रीमद्भागवत की प्रति रखी जाती है और उसकी पूजा की जाती है। यह पद्धति सिख मत के समान है जहाँ गुरुग्रंथ साहिब को श्रेष्ठ माना जाता है। शंकरदेव ने भाओना अर्थात पौराणिक नाटकों के अभिनय और नृत्य-संगीत के द्वारा धर्म प्रचार किया। इसलिए उनके अनुयायी उनके पथ पर चलते हुए भाव नृत्य और धार्मिक नाटक करते हैं।

असम में स्थापित सत्र को सामान्य भाषा में वैष्णव मठ

कहा जा सकता है कि पूर्वोत्तर भारत में वैष्णव धर्म के प्रसार और हिंदू धर्म व संस्कृति के संरक्षण में इन सत्रों का अवदान उल्लेखनीय है। इन सत्रों के माध्यम से श्रीमंत शंकरदेव ने सामाजिक सद्भाव, एकता और भाईचारे की भावना को सुदृढ़ किया। भागवतपुराण में 'सत्र' शब्द का अनेक बार उल्लेख किया गया है। भागवतपुराण में 'सत्र' शब्द का प्रयोग भक्तों की सभा के अर्थ में किया गया है, लेकिन असम के नव वैष्णव धर्मं में इस शब्द का भिन्न अर्थ में प्रयोग किया जाता है । महापुरुष शंकरदेव धर्म प्रचार के लिए असम के विभिन्न अंचलों में गए। इस दौरान वे जहाँ -जहाँ रहे उन स्थानों को बाद में सत्र के रूप में पहचान मिली। शंकरदेव के जीवनकाल में भक्त पेड़ के नीचे या खुले में इकट्ठे होते थे। शंकरदेव के जीवनकाल में भक्तों के स्थायी परिसर में रहने का चलन शुरू नहीं हुआ था, हालांकि कई स्थानों पर अस्थायी प्रार्थना घर जरूर बनाये गए थे। शंकरदेव ने सर्वप्रथम बरदोवा नामक स्थान पर सत्र की स्थापना की। इस सत्र में एक प्रार्थना घर अथवा नामघर बनाया गया जहाँ नाम स्मरण (कीर्तन) किया जाता था। भगवान के नाम स्मरण के साथ ही वहाँ पर धार्मिक व्याख्यान होता था। बाद में शंकरदेव के शिष्य माधवदेव ने बरपेटा सत्र की स्थापना की और दैनिक प्रार्थना सेवा और धार्मिक चर्चा की परंपरा आरंभ की। सामान्यतः सत्र चारदीवारी से घिरे चार प्रवेश द्वार वाला क्षेत्र है। इस चारदीवारी के बीच में आयताकार प्रार्थना कक्ष (नामघर या कीर्तनघर) होता है। इसके पूर्वी भाग में एक अतिरिक्त स्वतंत्र कक्ष होता है जिसे मणिकूट (गहना घर) कहा जाता है। इसके पवित्र गर्भगृह में एक लकड़ी का चतुष्कोणीय आसन होता है जिसमें चार शेरों की नक्काशीदार आकृतियाँ बनी होती है। इस आसन् में पूजा के मुख्य उद्देश्य से पांडुलिपि में लिखी भागवत पुराण की प्रतिलिपि या एक मूर्ति रखी जाती है। आरंभ में सत्र लकड़ी या बांस के बने होते थे, लेकिन बाद में ईंट और सीमेंट का प्रयोग होने लगा। नामघर के चारों तरफ झोपड़ियां होती हैं जिन्हें 'हाटी' कहा जाता है। यहाँ भकत (भक्त) रहते हैं। सत्र के पूर्वी ओर की हाटी में 'अधिकार' और अन्य उच्च अधिकारी रहते हैं। सत्र गाँवों में स्थापित नामघर के माध्यम से वैष्णव धर्म का विस्तार करते हैं। सत्र केवल धार्मिक संस्था नहीं है अपितु पूर्वोत्तर में सांस्कृतिक और सामाजिक उन्नयन एवं जनजागरूकता उत्पन्न करने में भी सत्रों ने महती भूमिका का निर्वाह किया है। सत्रों में नृत्य की एक विधा विकसित हुई है जिसे सत्रीय नृत्य कहा जाता है। असम सत्र महासभा सभी सत्रों का पितृ संगठन है। वर्तमान में राज्य सरकार उनके माध्यम से उनकी गतिविधियों का समन्वय करती है। सत्र के कामकाज की देखभाल और निगरानी के लिए एक सत्राधिकार और उनके अनेक सहयोगी होते हैं। इन पदों पर बैठे व्यक्ति की एक निश्चित जिम्मेदारी होती है। सत्रों के संचालन के लिए अनेक अधिकारी होते हैं। जिन्हें विभिन नामों से संबोधित किया जाता हैः

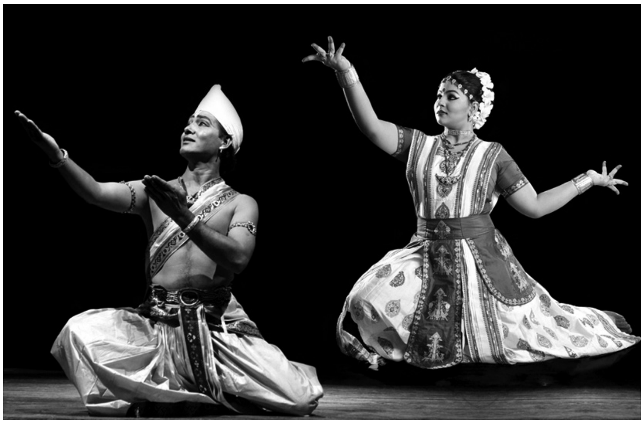

(I) **अधिकार–** अधिकार सत्र के धार्मिक और अध्यात्मिक गुरु और प्रमुख होते हैं। उनके नेतृत्व में ही पूजा-अर्चना और समस्त अनुष्ठान संपन्न होते हैं। उनको 'सत्रीय' अथवा 'महंत' नाम से भी जाना जाता है।

(II) **डेका अधिकार–** डेका अधिकार सत्र के धार्मिक और अध्यात्मिक गुरु के सहयोगी और सह-प्रमुख होते हैं 'अधिकार' के बाद सत्र में उनका स्थान दूसरा होता है। अधिकार के निधन होने अथवा उनकी अनुपस्थिति में डेका अधिकार ही सत्र का संचालन करते हैं।

(III) **भक्त –** यूँ तो सत्र में शिक्षा ग्रहण करने वाले किसी भी शिष्य को भक्त अर्थात भक्त कहा जा सकता है, परन्तु सही अर्थों में भक्त वही होता है जो सत्र की विचारधारा का प्रचार-प्रसार करता हैं अथवा सत्र में रहकर उसके परिचालन में मदद करता है। सत्र के अन्दर केवल अविवाहित भकत ही रह सकते हैं।

(IV) **शिष्य–** सत्र के अन्य भक्तों को शिष्य कहा जाता है। असम अथवा देश के अन्य राज्यों के अनेक वैष्णव परिवार सत्र के प्रति अनुराग रखते हैं और आर्थिक मदद करते हैं। उन्हें भी शिष्य माना जाता है, भले ही उन्होंने कोई सत्र शिक्षा ग्रहण नहीं की हो। बड़े सत्र में सैकड़ों ब्रह्मचारी और गैर ब्रह्मचारी भक्त निवास करते हैं।

ई. मेल -veerendraparmarfaridabad@gmail.com

❖❖❖

असम के जनसमुदाय पर श्रीमंत शंकरदेव का प्रभाव

अखिल चन्द्र कलिता

भक्ति का प्रारंभ कब और कहाँ-कहाँ बिखरे पड़े हैं, इसको लेकर विद्वानों और विचारकों में काफी मतभेद हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भक्ति आंदोलन को पराजित मनोवृति का देन मानते थे। लेकिन यह भारतीय धर्म और कर्मभूमि की एक उपज है। वास्तव में बौद्ध धर्म और जैन धर्म में जो विकृति आई, उन्होंने भक्ति और धर्म के नाम पर समाज को रूढ़ियों और अंधविश्वास के गर्त में धकेल दिया था। अतः इन भक्तों का लक्ष्य समाज को एक परिष्कृत धार्मिक मार्ग दिखाना था। कालांतर में वैष्णव भक्ति के अंतर्गत विष्णु के अवतार राम की भक्ति का प्रचार-प्रसार रामानंद की परंपरा में हुआ। वहीं कृष्णभक्ति का देशव्यापी प्रचार-प्रसार वल्लभाचार्य की शिष्य परंपरा में अष्टछाप के कवियों द्वारा हुआ। जब देश के विभिन्न भागों में भक्ति के कारण जागरण आने लगा था उस समय देश का उत्तरपूर्वी भाग इससे अछूता-सा था। देश के इस प्रान्त के अपने लोग धर्म और साधना को लेकर पथभ्रष्ट हो रहे थे। शंकरदेव से पूर्व असम में शैव मत, शाक्त मत और वैष्णव मत का प्रचार-प्रसार हो चुका था। ऐसा माना जाता है कि द्वितीय शताब्दी में राजकुमार नरकासुर ने यहाँ आर्यों का उपनिवेश बसाया था। नरकासुर ने ही शाक्त धर्म का प्रचार करके देवी पूजन का शुभारम्भ किया था। दसवीं से तेरहवीं सदी तक इस धर्म का रूप उग्र होता गया। बलि-प्रथा, तंत्र-मंत्र का प्रभाव बढ़ने लगा। बाह्याडम्बर और कर्मकांडों ने जनता को भ्रमित कर रखा था। ऐसी परिस्थिति को देखकर शंकरदेव बहुत चिंतित हुए और धर्म को परिष्कृत और परिमार्जित करने के लिए नई धार्मिक चेतना को जागृत किए। इसी दौरान वे भारत भ्रमण के लिए निकल पड़े। उन्होंने बारह वर्षों तक भारत भ्रमण किया। काशी, मथुरा, वृंदावन, पूरी, गया आदि तीर्थों पर गये तथा विभिन्न संतों के साथ बैठकर ज्ञान का आदान प्रदान किया। इस समय तक देश के कुछ भागों में वैष्णव धर्म का व्यापक प्रभाव पड़ चुका था। इसी सर्वभारतीय वैष्णव मत ने श्रीमंत शंकरदेव को विशेष प्रभावित किया।

संपूर्ण उत्तर पूर्वांचल में भक्ति आंदोलन के नारों का प्रचार-प्रसार करने में शंकरदेव का महत्वपूर्ण योगदान है। असम की विषम सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के बीच लोगों को वैष्णव धर्म का सन्देश दिया। अहिंसा और गुरु को भक्ति साधन का प्रधान अंग माना गया है। गीता में निष्काम कर्म, ज्ञान और भक्ति के समन्वय पर बल दिया गया है। जिससे लोक कल्याण की भावना को प्रश्रय मिला। इसमें ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूप स्वीकार्य है। इसका आधारभूत ग्रंथ श्रीमद्‌भागवत है। इन्हीं सिद्धांतों को लेकर शंकरदेव ने महापुरुषीया धर्म या एकशरणीया धर्म का प्रवर्तन किया। उन्होंने बहुदेववाद के भ्रम से जनमानस को निकालने हेतु कृष्णभक्ति का मार्ग दिखाया। श्रीकृष्ण को पूर्ण ब्रह्म माना और कृष्ण भक्ति को छोड़कर तीर्थ, व्रत, यज्ञादि वाह्याडंबरों को विडम्बना कहा हैं। यह कर्मकांड हरिनाम और हरि स्मरण के सामने फीके पड़ जाते है।

''यत महायज्ञ दान / तप जप तीर्थ स्नान...
केहो नोके आक सरि / डाके बोला हरि-हरि...''

शंकरदेव ने भक्ति का द्वार समाज के सभी वर्णों और वर्गों के लोगों के लिए खोल दिया। चांडाल भी हरिनाम लेकर मुक्ति योग्य बनता है। उन्होंने सामाजिक जीवन में भी जाति प्रथा और छुआछूत को नहीं माना।

'ब्राह्मणर चांडालर निबिसारि कुल / दातात चोरत जेन दृष्टि एक तुल
नीचत साधुत यार भैल एक ज्ञान/ तहाके से पंडित बुलिम सर्वजन'

अहिंसा, घृणा, ईर्ष्या आदि मनोविकारों का पूरी तरह से उन्मूलन होने पर ही ईश्वर की प्राप्ति होती है। इसलिए उन्होंने स्वंय को कृष्ण किंकर कहा है। उनमें सर्वजन हिताय की भावना प्रबल रूप में देखी जाती है। उनकी भक्ति भावना दास्य भक्ति को प्रेरणा देती है।

''कृष्णर किंकरे कहे शंकर सम्पति/ बोला हरि हरि सबै होके सद्गति''

शंकरदेव का कृष्ण रासविहारी कम, लोकरंजक और लोकरक्षक अधिक है। इसी कारण उन्होंने अपनी भक्ति में राधा को स्थान नहीं दिया है। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि भागवत में राधा नामक कोई चरित्र न होने के कारण उन्होंने ऐसा किया हो। इसका तात्पर्य ऐसा नहीं कि शंकरदेव के मन में नारी के प्रति आदर की भावना नहीं थी। नारी के प्रति उनकी भावना बहुत उदार थी। उन्होंने स्त्री को भी ईश्वर भक्ति का अधिकारी माना है। इस महामानव ने मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी समभाव की भावना व्यक्त की है। शंकरदेव ने सभी प्राणियों में ईश्वर का वास माना है।

कुकुर चंडाल गर्दभरो आत्मा राम। जानिया सबाको परि करिबा प्रणाम...

कुत्ता, चंडाल तथा गधे की आत्मा में भी राम हैं। नागा जाति का नरोत्तम आते, गारो का गोविन्द आते, कैवर्त का जयहरि आते उच्चकोटि के भक्त गुरु थे। यदि शंकरदेव द्वारा बनाई गयी यह व्यवस्था आज तक बरकरार रहती तो असम एक आदर्श राज्य बना रहता। इसाई मिशनरियों के चंगुल में फँसने से पूर्व तक नागा, गारो और भूटान

आदि के हजारों लोग एक शरणीय वैष्णव मत को मानते थे परन्तु कालांतर में धर्म परिवर्तन का प्रभाव इन पर पड़ा। इस तरह वे लोक धर्म के प्रवर्तक थे जिन्होंने समाज के निचले तबके के लोगों को विशेष रूप से अपनाया। शंकरदेव के अपने मत को लेकर जगह-जगह सत्रों की प्रतिष्ठा हुई। जहां केवल धर्म चर्चा ही नहीं होती, अपितु अन्य सामुदायिक क्रिया-कलाप भी होते हैं। शंकरदेव की विचार धाराएँ सिर्फ असम में ही सीमाबद्ध नहीं है। बारह वर्षों के भारत भ्रमण ने उनकी विचार धाराओं को व्यापकता प्रदान की। अतः उनके काव्य में राष्ट्रीयता की भावना होना स्वाभाविक है। उनके कीर्तनों में बार बार भारत देश का वर्णन मिलता है। वे भारत में जन्म होना पुण्य का फल मानते है। इस प्रकार महापुरुष शंकरदेव के चार रूप दृष्टिगत होते है, जैसे- साहित्यकार, धर्म-प्रचारक, समाज सुधारक, संस्कृति सेवक। साहित्यकार के रूप में महाकवि, नाटककार, गीतकार, आलोचक थे। धर्म प्रचारक के रूप में उन्होंने एक शरणीय वैष्णव मत के द्वारा एक परिष्कृत भक्ति मार्ग का प्रवर्तन किया। समाज सुधारक के रूप में धार्मिक सामाजिक रूढ़ियों का बहिष्कार किया। संस्कृति सेवा के अंतर्गत तो उनका समाज सुधारक और धर्म प्रचारक

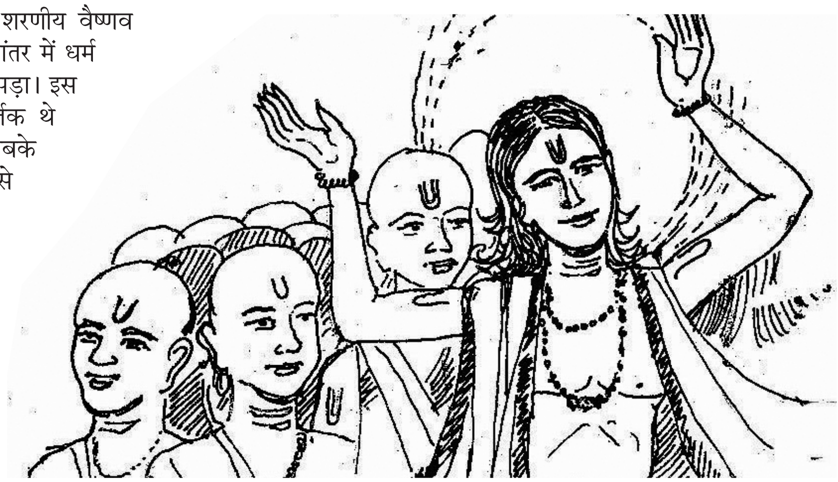

वाला रूप आता है। उन्होंने अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए पर्याप्त साहित्य की रचना की है। अनेक नाटक लिखकर उनका मंचन और निर्देशन भी किया। उनकी भाषा ब्रज, अवधि, मैथिली और असमिया भाषाओं के मिश्रण से बनी ब्रजबुलि है, जो राष्ट्रीयता का स्वर बुलंद करती है। इस दृष्टि से वे एक महान जातीय संगठक कहे जा सकते हैं। इनकी विद्वता एवं प्रतिभा संपूर्ण भक्ति आंदोलन के अन्य महात्माओं के समकक्ष ठहरती है। महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव के दर्शन, सृष्टि और विचारों का आज भी पालन हो रहा है और सदैव होता रहेगा।

❖❖❖

भारतीय सांस्कृतिक एकात्मता के सेतु पुरुष : श्रीमंत शंकरदेव

विभव भूषण त्रिपाठी

भारतीय संस्कृति एक प्रवाहमय पावन धारा है। यह प्रवाह अनवरत् है, पहले भी था आज भी है और भविष्य में भी बना रहेगा। यह सरिता जिस एक पर्वत से फूटती है, वह पर्वत भारतीय भाव-बोध का हिमालय है। उस पर्वत का हिम हमारी सूक्ष्म एकात्मता का स्थूल रूप है। कई बार समय का पहिया ऐसा घूमता है कि ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों से हम स्रोतस्विनी के दूसरे छोर से अनभिज्ञ से हो जाते हैं या कर दिए जाते हैं। ऐसा ही कुछ पूर्वोत्तर और शेष भारत के साथ भी हुआ। कुछ कारण तो परिस्थिति जन्य थे किंतु कुछ कारण कुटिल लोगों की कुचाल भर किन्तु धन्य है भारत और भारतीय बोध की उर्वरता, इस भूमि पर सौ दुराग्रहियों के बरक्स एक विराट चेतना युक्त योद्धा खड़ा होता रहता है। एक योद्धा जो ''समन्वय की विराट चेतना लेकर आता है।''[1] और आने वाले युग को बता जाता है कि हम एक हैं, हमारी संस्कृति एक है। ऐसी समन्वयवादी चेतना हम तुलसीदास में देखते हैं लेकिन उस काल में ही दूसरी तरफ शंकरदेव भी हैं जो समग्र भारत को अपने अवबोध में पिरोकर अभिव्यक्त करते हैं।

आज जब कोई अध्येता भारत के पूर्वोत्तर भाग की ओर देखता है तो उसे श्रीमंत शंकरदेव के विस्तृत कैनवास को देखना ही होता है। यूँ कहें कि शंकरदेव ही भारत और पूर्वोत्तर भारत के बीच वह सेतु हैं जो हमारी सांकृतिक एकात्मता की बारीक बुनावट सम्भाले हुए हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। किसी भी रचनाकार का मूल्यांकन उसके देश-काल सापेक्ष ही होना चाहिए, क्योंकि उसकी रचना का अधिकांश तत्कालीन समाज का वस्तुगत यथार्थ होता है। यदि रचना में यथार्थ नहीं है तो फिर किसी रचनाकार का रचनाकार होना ही संदिग्ध होता है, तब मूल्यांकन कैसा? जिस रचनाकार की रचना में समाज जितना अधिक आत्मूसाक्षात्कार करता है वह रचनाकार उतना ही कालजयी होता है। आज यदि हिंदी भाषा, साहित्य के शोधार्थी भी असम के एक साहित्यकार पर अध्ययन कर रहे हैं तो निश्चय ही उस साहित्यकार में और उसके साहित्य में समाज का यथार्थ झाँकता है, अपितु यह कहना अधिक तर्कसंगत है कि यथार्थ की लौ जगमग करती है। जिस लौ के प्रकाश से आज भी असम का समाज आलोकित होता है। लगभग एक ही काल-अवधि में देश के दो हिस्सों में दो विराट व्यक्तित्व हैं। यह कोई सामान्य घटना नहीं है बल्कि यह हमारे साहित्य जगत की बड़ी उपलब्धि है। एक तरफ असम का वन-प्रान्त शंकरदेव की परिवर्तनकारी वर्षा बूंदों से उर्वर हो रहा है तो दूसरी तरफ तुलसीदास की भक्ति-मंदाकिनी भारत के मध्यक्षेत्र को पावन कर रही है। इन दोनों की रचनाओं पर बात करना तो एक आलेख की सीमा का अतिक्रमण होगा। केवल इनके विराट व्यक्तित्व को उस सामाजिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में बहुत ही सन्तुलित रूप से देखा जा सकता है।

उद्‌देश्य यहाँ तुलना का नहीं है बल्कि समानांतर दो क्षेत्रों की वस्तु-स्थिति को अभिव्यक्त करना है। दूसरी बात यह है कि शंकरदेव की लकीर के बरक्स दूसरी लकीर तुलसीदास की ही हो सकती है। दोनों के अवबोध निर्माण की परिस्थितियाँ भी समान हैं। 'शंकरदेव टूअर हैं'[2] तो तुलसीदास भी 'मात-पिता जग जाई तज्यो'[3] के दंश से द्रवित हैं। प्रकृति ने सम्वेदना को प्रबल करने हेतु कैसा निष्ठुर माध्यम खोज निकाला है। दोनों ही जीवन की कटुता का गरल चखते हैं, जिम्मेदारी से भागते नहीं जूझते हैं। आप कहेंगे कि तुलसीदास तो पत्नी को छोड़कर सन्यासी हो जाते हैं, किंतु यह उनका चुनाव नहीं था। पत्नी उन्हें विवश करती है और उनका मोहभंग होता है। शंकरदेव बालपन से ही वैरागी स्वभाव के हैं किंतु वह भी सब कुछ छोड़कर सन्यास कर्म नहीं अपनाते बल्कि कर्म सन्यास का वह मार्ग चुनते हैं जो योगेश्वर कृष्ण द्वारा गीता में बताया गया है। तुलसीदास को जहाँ मूड़ मुड़ाकर सन्यासी होने पर आपत्ति है वहीं शंकरदेव भी अपने दायित्वों से मुक्त होकर ही सन्यास के मार्ग पर आते हैं। दोनों की दृष्टि में ब्रह्म और माया का महत्व है। दार्शनिक स्तर पर भी दोनों में भौगोलिक दूरी बाधा नहीं बनती। अपने अपने आराध्यों को लेकर भी दोनों में कोई कट्टरता नहीं है। तुलसीदास को राम प्रिय हैं किंतु उन्हें कृष्ण से परहेज नहीं है तो शंकरदेव भी कृष्णकथा के समान रामकथा को महत्व देते हैं उसे अछूता नहीं रखते। ऐसी और भी बातें है जो किसी भी हिंदी सेवी के मन मे शंकरदेव की अलख जगाने का सामर्थ्य रखती हैं। इन बातों पर और गंभीरता व विस्तार से विचार की आवश्यकता है। इस आलेख में केवल इशारा भर है, जो केवल उन बिंदुओं की ओर ध्यान खींचना चाहता है जो कारण अध्येताओं को विचार-विमर्श से रोकते रहे हैं? आखिर क्यों भारत के अधिकांश भाग को पूर्वोत्तर से अनभिज्ञ रखा गया? वह कौन से कारक थे जिन्होंने अभेद्य सांस्कृतिक किले में सेंध लगाई? यह बातें कोई प्रलाप नहीं हैं बल्कि शंकरदेव के महत्व को समझने का आवश्यक अवयव हैं। इन्हीं धागों को सुलझाकर एक रचनाकार और उसके समय, समाज व संस्कृति को भारतीय संदर्भ में देखा जा सकता है। साहित्य के संदर्भ में यह तथ्य और भी महत्वपूर्ण है। मुक्तिबोध कहते हैं। ''किसी भी साहित्य का वास्तविक विश्लेषण हम तब तक नहीं कर सकते जब तक हम उन गतिमान सामाजिक शक्तियों को नहीं समझते, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक धरातल पर

आत्म-प्रकटीकरण किया है।'' [4] वह गतिमान सामाजिक शक्तियाँ क्या थीं और क्या हैं यही समझना वर्तमान की मांग है। हमारे वामपंथी विद्वानों को मध्यकाल में केवल मुगल साम्राज्य का स्वर्णयुग ही दिखता है जिसे वह समग्र भारत का स्वर्णयुग बताकर अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। उन्हें और कुछ दिखता भी है तो केवल नाम भर की किसान समस्या वह भी जो 'कर' से सम्बंधित है। मध्यकाल में समूचे भारत में जो अस्थिरता और अराजकता है उस पर इनकी निगाह नहीं जाती या किसी एजेंडे के तहत उन पर बात नहीं होती यह दीगर बात है। श्रीमंत शंकरदेव के समय में असम की क्या राजनैतिक व सामाजिक स्थिति है इस पर मुख्यधारा के इतिहासकार कदाचित विचार नहीं करते। लेकिन आज जब पूर्वोत्तर विमर्श के केंद्र की ओर सरक रहा है तो ज्ञात होता है कि शेष भारत की तरह असम में भी स्थितियाँ सामान्य नहीं रही। भूपेंद्र राय चौधरी लिखते हैं कि ''शंकरदेव कालीन (1449-1548 ई.) असम में किसी एक सबल केंद्रीय सत्ता का अभाव था। मार-काट, छीना-झपटी, हत्या-लूट के कारण सामान्य जनता का जीवन असुरक्षित था''[5]। शेष भारत में भी स्थिति ऐसी ही है, इसका उदाहरण हम तुलसीदास की कवितावली में देख सकते हैं। एक तो पूर्वोत्तर वज्रयानियों की तंत्र साधना से त्रस्त था दूसरे वहाँ की सत्ता भी अस्थिर थी। ऐसे समय में शंकरदेव वैष्णव मत का प्रचार करते हैं। आज भी बंगाल, असम आदि पूरब में मांसाहार सामान्य बात है, जो वाममार्गी साधना का ही प्रभाव है। असम क्षेत्र को इन तांत्रिकों की प्रभावी गिरफ्त से मुक्त कराने का सार्थक प्रयास शंकरदेव ने किया, लेकिन उन्हें इतिहास में वह सम्मान नहीं मिला जिसके वह हकदार थे। आज यदि पूर्वोत्तर में वैष्णव धर्म पुष्पित पल्लवित है तो केवल शंकदेव के उस बीजवपन के कारण। दिल्ली की गद्दी पर बैठे वामपंथियों के पुरखे तांत्रिकों से कहीं अधिक शोषक थे। तांत्रिक तो स्त्री शोषण के मामले में मुगलों के सामने कुछ भी नहीं। जिन्हें हमारे इतिहासकार सहिष्णु बताते हुए नहीं थकते। उस अकबर के विषय में उदयभानु सिंह लिखते हैं कि ''अकबर के अन्तःपुर में 5000 और जहाँगीर के हरम में 3000 युवतियाँ एकत्र की गयी थी'।''[6] यह स्त्रियाँ सातवें आसमान से तो उतरी नहीं थी? यह तो भारत की बेटियाँ थी जिन पर विचार करने की जहमत कोई इतिहासकार नहीं उठाता। उठाए भी क्यों! उसे तो अपने हुक्मरान के कीच पर मिट्टी डालने से फुरसत नहीं है।

मध्यकाल में किसानों की स्थिति क्या ही बताई जाए, बेटियाँ असुरक्षित, भूमि असुरक्षित, संसाधनों का अभाव इत्यादि समस्याओं के अलावा उनके पास क्या था। ऊपर से यदि 'कर' देने में चूक हुई तो कठोर दंड यह बात तो इरफान हबीब भी मानते हैं (साम्यवादी विवशता है)। वह लिखते हैं, ''कर के भुगतान से मना करने का अंतिम दंड अत्यंत कठोर होता था।''[7] इतना कहने के बाद भी इरफान हबीब अंग्रेज इतिहासकारों को कोसते हैं कि उन्होंने खुद को मुगलों के बरक्स अंग्रेजी हुकूमत को अधिक सहिष्णु कहा है। वह लिखते हैं कि 'ब्रिटिश इतिहासकारों का घोषित लक्ष्य यह दिखाना था कि उनके पहले की सरकारें निरंकुश, असहिष्णु तथा दानवी रूप से क्रूर थीं' ''भारतीय जनता का विजित होना उनकी नियति थी। उन्हें खुश होना चाहिए कि उनके अंतिम विजेता बहुत ही न्यायप्रिय और दयालु रहे हैं।'' [8] जब इरफान हबीब यह जुमला कहते हैं कि 'ब्रिटिश इतिहासकारों का घोषित लक्ष्य यह दिखाना था' तब यह सवाल उठता है कि इन जनाब का घोषित, अघोषित लक्ष्य क्या है? 'पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है', मतलब आप साबित क्या करना चाहते हैं कि इतिहासकार पहले से तय लक्ष्य के आधार पर इतिहास लिखते हैं? यदि ऐसा है तब, क्या आप ऐसा नहीं करते? इस पर भी विचार होना चाहिए। इतिहास ऐसे विरोधाभास से भरा पड़ा है, लेकिन कौन इन बातों पर विचार करे? यदि इन बातों पर कोई ध्यान खींचना भी चाहे तो वह अज्ञानी, अल्पबुद्धि आदि शब्दों का खिताब स्वीकार करे। ऐसे ही दोहरे चरित्र के कारण विद्वानों ने पूर्वोत्तर को भारत से अलग-थलग करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कभी चीन परस्ती में तो कभी आदिवासी अस्मिता की राजनीति के नाम पर। चिकन नेक को काटकर अलग करने की जो सोच है वह आज उजागर हो गयी है। यह सोच नई नहीं है बल्कि अब भारत में जब पूर्वोत्तर को लेकर चेतना आ रही है तो इन छद्म चेहरों का नकाब उतर रहा है, उनकी कुंठा उजागर हो रही है। बड़े-बड़े एनजीओ बनाकर उनके नाम पर जो प्रोपोगेंडा चलाया जा रहा था वह सब उजागर हो रहा है। जो पूर्वोत्तर हमारे महाकाव्यों में स्थान रखता है, हमारे पुराणों में वर्णित है उसे ही हमसे बिल्कुल भिन्न बताया जाता है। फारवर्ड प्रेस वाले तो भरपूर जहर उगलते हैं, उनका एक आलेख जो उनके पोर्टल पर है ''पूर्वोत्तर भारत : एक और जन्मभूमि, एक और 'राम' मिजोराम!''[9] जरूर

पढ़ना चाहिए। इस आलेख से बहुत सी बातें पता चलती हैं जो अनचाहे ही उजागर हो गयी हैं। इन तमाम विद्वेषयुक्त कोशिशों के बाद भी जो एक रचनाकार पूर्वोत्तर को भारत से जोड़े रखता है वह शंकरदेव हैं। शंकरदेव केवल असम के जातीय रचनाकार का गौरव ही नहीं रखते, बल्कि समग्र भारत के साहित्य को गौरव प्रदान करते हैं। एक रचनाकार के रूप में आपकी संवेदना और उसकी प्रामाणिकता कैसी होनी चाहिए, यह भी शंकरदेव से सीखा जा सकता है। सन्यास लेकर वह किसी मठ में नहीं बैठ जाते बल्कि प्रवास पर निकलते हैं। प्रवास भी तब चुनते हैं जब अपने दायित्वों से मुक्त हो जाते हैं। इस संदर्भ में भूपेंद्र राय चौधरी लिखते हैं कि ''वे उस समय तक वैराग्य नहीं स्वीकारते हैं, जब तक मनु (पुत्री) का विवाह नहीं करा लेते हैं''। [10] सन्यास लेकर जब वह निकलते हैं तो इस भावना के साथ कि कुछ अनुभव प्राप्त किये जायें। भारत भ्रमण की अभिलाषा केवल मनोरंजन हेतु नहीं हैं, वह भी उस समय में जब परिस्थितियाँ प्रतिकूल थी। शास्त्र का ज्ञान तो उन्हें पहले से था, लोक का अनुभव लोक से प्राप्त करने हेतु वह भारत भ्रमण करते हैं। भारत के विस्तृत भू-भाग से बहुत से अनुभव अपनी झोली में रखकर लाते हैं। वह झोली जब खुलती है तो रचनाओं का सहज उच्छलन होता है।

आज जब राष्ट्रभाव की मशाल धधक रही है तब पूर्वोत्तर से सांस्कृतिक जुड़ाव दिखाने का सबसे सशक्त माध्यम शंकरदेव ही हैं। वर्तमान समय में यदि कोई शोधार्थी पूर्वोत्तर में रामकथा की तलाश करता है तो शंकरदेव ही वह प्रस्थान बिंदु होते हैं जिनसे होकर अध्येता 'साबिन-आलुन' और 'लिक्क्याड़ लामाड' तक पहुंचता है। सुदूर मिजोरम की भूमि में राम को तलाश पाता है। यदि शंकरदेव ने रामकथा पर स्नेह न दिखाया होता तो यह सम्भव होना मुश्किल था। तब यह जरूर संभव होता कि विखंडनवादी ताकतों को शक्ति मिल जाती। आज हम मिजो भाषा के 'राम' अर्थात भूमि को वैदिक साहित्य की सीता से यदि जोड़ पाते हैं तो कहीं-न-कहीं इस समन्वय में योगदान शंकरदेव का ही है। आज जब कोई मुह उठाए यह तर्क रखता है कि पूर्वोत्तर और भारत केवल सीमा विस्तार के कारण एक हैं, उनमें कोई सांस्कृतिक समानता नहीं है तब शंकरदेव ही वह आप्त प्रमाण बनते हैं जिसके सामने कुतर्क नहीं टिक सकता। यह जो 'असुर' से 'अहुर' और 'अहुर' से 'अहीर' वाले छद्म बुद्धिजीवी हैं उनके लिए शंकरदेव एक मजबूत लाठी हैं। ऐसी लाठी जो उनके हाथ में नहीं है बस सामने है। शंकरदेव का रचनाक्षेत्र विस्तृत है, नाटक, काव्य, चित्र, नृत्य आदि कलाओं के साथ दर्शन, इतिहास जैसे क्षेत्र में भी इनका हस्तक्षेप है। समाज के प्रति जो इनका दायित्व बोध है और परिष्कार की भावना है उसे तो नकारा ही नहीं जा सकता। अध्येताओं को इन्हें साहित्य के सीमित दायरे में ही नहीं देखना चाहिए। जिस तरह से साहित्य में शंकरदेव पर शोधकार्य हो रहे हैं उस तरह से या और भी गंभीरता से मानविकी के अन्य अनुशासनों में भी उन पर शोध होना चाहिए। एक भक्त जिसके प्रभाव से समाज और साहित्य दोनों ही सम्मानित होते हैं उसके सम्बंध में अध्ययन तो गर्व का विषय होना चाहिए। इतिहास के शोधार्थियों को इस पर विचार करना चाहिए कि आखिर वह कौन से कारक हैं जो एक महापुरुष को यथोचित स्थान नहीं देते। समाजशास्त्रियों को भी पूर्वोत्तर और असम के वैष्णव समाज पर निगाह करनी चाहिए तथा उस समाज के इस स्वरूप पर विशेष ध्यान देना चाहिए। जो समाज एक समय में वाममार्गी साधना का केंद्र बनकर रह गया था उस समाज में जो परिवर्तन हुआ वह भी अध्ययन योग्य है। इतिहास और समाजशास्त्र के अध्येताओं को गम्भीरता से इसपर विचार करना चाहिए। शंकरदेव भारत की संत परंपरा के मजबूत स्तम्भ हैं, वही वह सेतु हैं जो भारत की सांस्कृतिक एकात्मता को पूर्वोत्तर से जोड़े हुए हैं। इससे पहले की वह वामपंथी कुटिलता के शिकार बनें, राष्ट्रवादियों का यह दायित्व है कि उन्हें उनका यथोचित सम्मान व स्थान दिया जाए।

सन्दर्भः-

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - द्वितीय, 1990, पृष्ठ संख्या- 131

2. भूपेंद्र राय चौधरी, शंकरदेव और तुलसीदास की वैचारिक भावभूमि, भारतीय संस्कृति परिषद, गुवाहाटी 781006, असम, प्रथम संस्करण, 1997, पृष्ठ - 3

3. तुलसीदास, कवितावली,पद संख्या, 7/57, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत, 2069, पृष्ठ संख्या - 97

4. गजानन माधव मुक्तिबोध, बीसवीं सदी में जनकला सिद्धांत और सृजन, सम्पादित - शेहला हाशमी ग्रेवाल, अशोक तिवारी, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, संस्करण 2000, पृष्ठ संख्या - 274

5. भूपेंद्र राय चौधरी, शंकरदेव और तुलसीदास की वैचारिक भावभूमि, भारतीय संस्कृति परिषद, गुवाहाटी 781006, असम, संस्करण,1997, पृष्ठ संख्या - 9

6. उदयभानु सिंह, तुलसी काव्य मीमांसा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2002, पृष्ठ संख्या - 188

7. इरफान हबीब, भारतीय इतिहास में मध्यकाल, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2002, पृष्ठ संख्या - 50

8. वही, पृष्ठ संख्या, 49

9. जितेंद्र भाटिया, पूर्वोत्तर भारत : एक और जन्मभूमि, एक और राम मिजोराम , फारवर्ड प्रेस, मई 2019 अंक (ऑनलाइन उपलब्ध)

10. भूपेंद्र राय चौधरी, शंकरदेव और तुलसीदास की वैचारिक भावभूमि, भारतीय संस्कृति परिषद, गुवाहाटी 781006, असम, संस्करण,1997, पृष्ठ संख्या - 2

ई. मेल -vibhawtripathi15@gmail.com

❖❖❖

श्रीमंत शंकरदेव और मुखौटा कला

आदित्य कुमार मिश्र

असम प्रान्त में भक्ति आंदोलन के प्रवर्तक तथा नववैष्णव धर्म के संस्थापक महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव (सन् 1449-1568 ई.) राष्ट्रसंत थे। भारत के मध्यकालीन इतिहास में हम अनेक संतों ,भक्तों तथा समाज-सुधारकों के विषय में पढ़ते और सुनते आए हैं, पर यह विडंबना ही कही जाएगी कि भारतीय राष्ट्र के असम प्रान्त में जन्में श्रीमंत शंकरदेव से हमारा परिचय अत्यल्प है। उनके व्यक्तित्व को हम केवल संत, भक्त, कवि, समाज सुधारक जैसी उपमाओं में नहीं बांध सकते। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। उनकी बहुमुखी प्रतिभा को ध्यान में रखते हुए सांवरमल सांगानेरिया ने कहा है-''महामहिम शंकरदेव को संस्कृति-पुरुष कहना ज्यादा समीचीन होगा। एक में अनेक गुणों के सामंजस्य का नाम श्रीमंत शंकरदेव है। वह केवल धर्म-प्रतिष्ठापक संत ही नहीं थे और न ही उनकी आध्यात्मिकता केवल धर्म मात्र से ही जुड़ी थी। वे चिंतक, दार्शनिक, शास्त्र मर्मज्ञ, समाज-संस्कारक, मानवतावादी, कवि, संगीतज्ञ, नाट्यकार, नर्तक, चित्रकार, अभिनेता, गीतिकार, गायक-वादक, निर्देशक, मंच व्यवस्थापक आदि के अतिरिक्त वयन विशेषज्ञ भी थे।''[1]

सन् 1481 ई. में श्रीमंत शंकरदेव अपने 17 शिष्यों के साथ प्रथम तीर्थाटन के लिए निकले। अपनी प्रथम यात्रा में उन्होंने वाराणसी, प्रयाग, गोकुल, वृंदावन, गोवर्धन, मथुरा, कुरुक्षेत्र, रामह्द, सीताकुंड, अयोध्या, द्वारका, बद्रिकाश्रम, जगन्नाथपुरी आदि प्रमुख तीर्थों की यात्रा की। यह प्रथम तीर्थ यात्रा ही उस 'नव वैष्णव भक्ति आंदोलन' की दिशा में पहला कदम था, जिसकी प्रतिष्ठा बाद में उनके द्वारा पूरे असम प्रान्त में हुई। 1550 ई. में उन्होंने अपनी दूसरी यात्रा 120 शिष्यों के साथ की। इस यात्रा में उनके योग्य शिष्य माधवदेव भी उनके साथ थे। श्रीमंत शंकरदेव की यात्रा दृष्टि के महत्व को व्याख्यायित करते हुए डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' ने कहा है कि ''भ्रमण में शंकरदेव को भारतवर्ष की विविधता, अनेकता और विराटता में जिस एकता (अद्वैतता) का प्रत्यक्षीकरण हुआ, मानो वही जगत की अनन्तता और विष्णु-कृष्ण की विराटता व सर्वशक्तिमत्ता की प्रतिमूर्ति थी और वही 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम' के बोध में परिणत हो उनकी सिद्धि बनी। विराट राष्ट्रपुरुष भगवान कृष्ण की शरण उन्हें स्वीकार्य हुई।''[2]

अपनी प्रथम तीर्थ यात्रा से लौटने के उपरांत उन्होंने बरदोवा में प्रथम सत्र की स्थापना की। सत्रों की स्थापना उन्होंने अपने सिद्धान्त ''एकशरण नाम धर्म' के प्रचार-प्रसार के लिए की। कालांतर में उनके अनुयायियों द्वारा पूरे असम में इन सत्रों का विस्तार हुआ। असम में सत्र केवल धार्मिक संस्था के रूप में ही नहीं अपितु सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था के रूप में भी अपनी विशिष्ट अर्थवत्ता रखते हैं। सत्रों के भीतर भक्त और शिष्य सत्राधिकार के मार्गदर्शन में आध्यात्मिकता, नैतिकता, सात्विकता जैसे पवित्र जीवनमूल्यों का अभ्यास करते हैं तथा विष्णु या कृष्ण की उपासना करते हैं। असम के सत्र एक स्वावलंबी संस्था की भांति हैं जिनकी अपनी मौलिक विशेषताएं हैं।''[3]

सत्र एक तरफ विविध सांस्कृतिक कार्यक्रमों के संपादन स्थल हैं तो दूसरी तरफ अनेक कलारूपों के केंद्र भी। सत्रों के भीतर विभिन्न प्रदर्शनकारी कलाओं जैसे नृत्य, नाट्य,गायन-वादन आदि की शिक्षा दी जाती है। सत्र के भीतर इन कलारूपों का अभ्यास श्रीमंत शंकरदेव के समय से ही चला आ रहा है। उन्होंने कला को ईश्वर प्राप्ति का माध्यम माना था। नववैष्णव भक्ति आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने कई कलारूपों को जन्म दिया। वे स्वर, ताल, लय, राग आदि सांगीतिक तत्वों के कुशल विशेषज्ञ थे। उन्होंने पौराणिक प्रसंगों को आधार बनाकर नाटकों की रचना की। इन नाटकों को 'अंकिया नाटक' कहा जाता है। नाटकों के प्रदर्शन में उन्होंने मुखौटों के प्रयोग की शुरूआत की जो मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के किसी भी संत कवि का प्रथम मौलिक प्रयोग था।

मुखौटा कला असम के कलात्मक वैशिष्ट्य का उत्कृष्ट रूप है। असम के विभिन्न लोक कलारूपों में मुखौटा कला की समृद्ध विरासत है। इस कला का इतिहास महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव प्रवर्तित नव वैष्णव आंदोलन से जुड़ा है। शंकरदेव असम के संदर्भ में विभिन्न कलाओं के जन्मदाता कहे जाते हैं। उन्हें लोक एवं शास्त्र दोनों का गहरा अनुभव था। नव वैष्णव धर्म को विस्तार देने के लिए उन्होंने नाटकों की रचना की। इन नाटकों को असम में अंकिया नाट्य की संज्ञा दी जाती है। इन नाटकों की रचना उन्होंने राम और कृष्ण के पौराणिक प्रसंगों को आधार बनाकर की। इन नाटकों की रचना के साथ शंकरदेव ने इनका प्रदर्शन भी किया। प्रदर्शन के समय उन्होंने विभिन्न कलात्मक अभिधानों का भी उपयोग किया। वे नाटकों के प्रदर्शन विधि को जीवंत एवं प्रभावकारी बनाना चाहते थे, जिसके लिए उन्होंने मुखौटों की उपयोगिता को प्राथमिकता दी। अपने नाटकों में विभिन्न पौराणिक चरित्रों के अभिनय को सजीव रूप देने के लिए उन्होंने मुखौटों के प्रयोग की नींव डाली। उन्होंने स्वयं मुखौटों का निर्माण प्रारंभ किया। अपने पहले नाटक '''चिह्न यात्रा' (वर्तमान में अप्राप्य) में मुखौटों का सर्वप्रथम प्रयोग किया।''[4] मुखौटों के प्रयोग के पीछे उन्होंने अपनी लोकाभिमुखता का परिचय दिया। नाटकों के प्रदर्शन में मुखौटों की अनिवार्यता उनकी मौलिक देन है। साधारण जनसमाज जिसे 'लोक' कहते हैं, उसका नाटकों के प्रति सीधा झुकाव बिना जीवंतता एवं आकर्षण के संभव नहीं था। पौराणिक पात्रों के समान अभिनय एवं दर्शनीयता न होने के कारण लोग स्थिर एवं एकरस हो सकते थे, इसलिए शंकरदेव ने इस कला का प्रवर्तन किया।

मुखौटों की परंपरा शंकरदेव के समय से प्रारंभ होकर अब तक प्रवाहमान है। मुखौटों के प्रयोग से नाटकों के प्रति लोकाभिरुचियों का विस्तार हुआ और लोकधर्मी संस्कृति का विकास हुआ। मध्यकाल में शंकरदेव प्रवर्तित नव वैष्णव भक्ति आंदोलन के विस्तार में विविध कलाओं की महती भूमिका रही। मुखौटा कला के साथ ही, नृत्य कला, गायन कला, वादन कला,

हस्त कला आदि कलाओं का विकास भी भक्ति आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में हुआ। मुखौटों का उपयोग नाट्य कला के संबंध में एक विशिष्ट देन थी। अंकिया नाटकों के अतिरिक्त इनका प्रयोग रास उत्सव के समय में भी होता है। असमिया समाज अपने पारंपरिक अनुष्ठानों एवं उत्सवों में भी इनका उपयोग करता है। इनकी उपस्थिति अभिनय को जीवंत एवं प्रभावशाली बनाती है।

मुखौटों के निर्माण की आवश्यकता क्यों पड़ी यह प्रश्न विचारणीय है। मानवीय चरित्र एवं प्रकृति में बहुत कुछ ऐसा है जिसके अभिव्यक्त होने में भाषा और चेहरे के रंक चूक जाते हैं। इस स्थिति में मुखौटे का कलात्मक उपयोग वह नाटकीय अर्थ रचता है जिसके कथ्य का संप्रेषण अन्य साधनों से संभव नहीं हो पाता। नाटकों में प्रयोग में लाने पर ये मुखौटे जहाँ एक ओर पौराणिक और अध्यात्मिक अर्थ रचते हैं वहीं दूसरी ओर नाटकीयता के तत्वों को भी गहराई प्रदान करते हैं। मुखौटे मनुष्य की कल्पना एवं सृजनात्मकता के उत्कृष्ट नमूने हैं यह अभिनेता को वह आवश्यक दूरी एवं छिपाव देते हैं जिसके बिना किसी विशेष बात की अभिव्यक्ति असंभव होती है।

अंकिया नाट्य (भाओना) में मुखौटों का बहुतायत मात्रा में प्रयोग होता है। रास उत्सव में रास भाओना का प्रदर्शन भी होता है। इन नाट्य उत्सवों में मुखौटों की बड़े पैमाने पर मांग होती है। नाट्य प्रदर्शनों में विभिन्न पौराणिक पात्रों एवं पशु-पक्षियों की भूमिका का निर्वहन पात्र मुखौटों के माध्यम से करता है। इस समय मुखौटा बनाने की कला अंकिया नाट्य एवं रास उत्सव का अविभाज्य अंग है। असम के सत्र सक्रिय रूप से इसमें अपना सहयोग दे रहे हैं सामागुरी सत्र की सक्रियता के अतिरिक्त अब अन्य सत्रों के भक्त एवं शिष्य इस कला को सीख रहे हैं एवं अधिक से अधिक मुखौटों का निर्माण भी कर रहे हैं।

मुखौटों को बनाने की विधि-मुखौटा बनाने के लिए मुख्य रूप से बांस, बेंत, कपड़े और मिट्टी आदि का उपयोग किया जाता है। प्रारंभ में मुखौटों का निर्माण केवल लकड़ी से किया जाता था, जिसमें रंगों से विभिन्न आकृतियां उकेरी जाती थीं। कालांतर में इन मुखौटों को बनाने के लिए बांस, बेंत, सूती कपड़े, गोबर और मिट्टी का इस्तेमाल किया जाने लगा। बांस और बेंत के प्रयोग से मुखौटे काफी हल्के और उपयोगी होने लगे। मुखौटा बनाने के लिए सबसे पहले कच्चे बांस को 6 से 7 दिनों के लिए पानी में भिगोकर रखा जाता है। ऐसा करने से बांस में लचीलापन तो आता ही है साथ ही बांस के टुकड़ों को कीटों के हमले से बचाया जाता है। अगले चरण में बांस को आवश्यकतानुसार विभिन्न खण्डों में विभाजित किया जाता है। पतले और लचीले टुकड़ों की मदद से मुखौटे के प्रारंभिक ढांचे को तैयार किया जाता है। इस प्रक्रिया में प्रत्येक जोड़ पर बेंत की सहायता से ढांचे को गठित किया जाता है। मूल कंकाल तैयार होने के बाद इस पर सूती कपड़े को गीली और चिकनी मिट्टी में भिगोकर चिपकाया जाता है। मूल ढांचे पर पहली परत मिट्टी में भीगे इस सूती कपड़े की ही होती है। दूसरे चरण में इसके ऊपर गोबर और मिट्टी की दूसरी परत चढ़ाई जाती है। मुखौटा जब सूख जाता है इसके बाद तीसरे चरण में मुखौटे को उसका वास्तविक रूप दिया जाता है। यह चरण महत्वपूर्ण होता है क्योंकि इसमें मुखौटे का चरित्र निर्धारण करता है। मुखौटे को जिस भी रूपाकृति में ढालना है, उसका निर्धारण इसी चरण में होता है। कलाकार मुखौटे में आंख, नाक, कान, मुँह, भृकुटी, मूछें, दांत आदि का निर्माण करता है। इस विधि में वह सूती वस्त्र को ही मिट्टी और गोबर के मिश्रण में भिगोकर चिपकाता है। चौथे चरण में मुखौटे को विभिन्न रंगों से रंगा जाता है। चारित्रिक विशेषताओं के अनुरूप मुखौटे पर रंग से कलाकारी की जाती है। किसी राक्षस का मुखौटा होगा तो उसके क्रोधित और आवेशित भावों को कलाकार उकेरता है। इसी तरह किसी पक्षी, वानर या देवी-देवता के मुखौटे को उसकी भाव-भंगिमाओं के अनुसार रूप दिया जाता है। पहले मुखौटों की रूपसज्जा के लिए प्राकृतिक रंगों का प्रयोग किया जाता था; लेकिन अब प्राकृतिक रंगों का प्रयोग बहुत कम मात्रा में होता है, इसका कारण प्राकृतिक संसाधनों का कम मात्रा में उपलब्ध होना है। इस विषय में कलाकारों का कहना है कि अब प्राकृतिक रंग सहजता से उपलब्ध नहीं होते हैं और बाजार में अगर उपलब्ध भी होते हैं तो उनका मूल्य अधिक है। वर्तमान में अधिकांशतः कृत्रिम रंगों का उपयोग ही मुखौटों के निर्माण में किया जाता है। मुखौटों के निर्माण में 7 से 10 दिन तक का समय लग जाता है। मुखौटों को बनाने में लगने वाला समय इस बात पर निर्भर करता है कि मुखौटे का आकार-प्रकार क्या है।

सत्रों के भीतर निर्मित होने वाले मुखौटे मुख्य रूप से तीन प्रकार के बनाये जाते हैं। पहले प्रकार को 'मुख-मुखा' कहते हैं। इस तरह के मुखौटों का निर्माण और उपयोग अधिक होता है। ये केवल चेहरे को ढंकते हैं। इस प्रकार के मुखौटों में हनुमान, बाली, सीता, ब्रह्म, मारीच, त्रिसरा, खर-दूषण आदि के मुखौटे आते हैं।

दूसरे प्रकार के मुखौटों में 'लोटोकइ मुखा' आता है। इन्हें 'हैंगिंग मास्क' भी कहा जाता है। ये आकर में मुख-मुखा से बड़े होते हैं। शरीर के अंगों जैसे-हाथ, पांव, मुँह, आंखों को ध्यान में रखकर इनका निर्माण किया जाता है। ये गतिशील होते हैं। गरुड़, जटायु, अघासुर, हिरण, मोर, ऐरावत हाथी आदि इसी तरह के मुखौटे हैं।

तीसरे प्रकार के मुखौटों को 'बर अथवा चो मुखा' कहते हैं। इस तरह के मुखौटे आकार में सबसे बड़े होते हैं और लगभग पूरे शरीर को ढंकते हैं। ये सिर या शरीर के किसी अन्य बड़े भाग को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं। इनका निर्माण सामान्यतः दो भागों में किया जाता है। पहला गर्दन से सिर का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरा हिस्सा शरीर का प्रतिनिधित्व करता है। यह हिस्सा हाथों से पैर तक फैला होता है। चो-मास्क की लम्बाई दो से साढ़े तीन मीटर तक होती है। चो मुखा आकार में भले ही बड़े होते हैं परंतु इन्हें बहुत हल्के वजन का बनाया जाता है। इस प्रकार के मुखौटों में नृसिंह, रावण, कुम्भकरण, बकासुर, नरकासुर आदि के मुखौटे आते हैं।

मुखौटा बनाने वाले कलाकार रामायण, महाभारत और पौराणिक महाकाव्यों के आधार पर मुखौटो का निर्माण करते हैं। कलाकार रावण, कुम्भकरण, नरसिंह, खर, दूषण, बकासुर, तारकासुर, धेनुकासुर, अघासुर, हनुमान, बालि, सुग्रीव, जटायु. गरुड़ आदि चरित्रों के मुखौटे बनाते हैं। इन विभिन्न पौराणिक चरित्रों के मुखौटे बनाने के लिए कलाकार इनकी पुराकथाओं का बारीकी से अध्ययन करते हैं बालि और सुग्रीव के मुखौटे को सामान्य व्यक्ति एक ही मानेगा परंतु उनमें सूक्ष्म अंतर होता है ''जिसका ध्यान कलाकार

मुखौटों के निर्माण के समय रखते हैं। रास उत्सव के समय ये मुखौटे अधिक खरीदे जाते हैं क्योंकि पूरे माजुली में पचास से अधिक स्थानों पर इन मुखौटों का प्रदर्शन होता है।''[5]

इन मुखौटों की माँग केवल असम तक सीमित है ऐसा नहीं है। माजुली में निर्मित इन मुखौटों की मांग विदेशों में भी है। ब्रिटिश संग्रहालय में यहाँ के मुखौटे दर्शकों के लिए आकर्षण का केंद्र है। विदेशों से प्रतिवर्ष कई सैलानी यह कला सीखने भी आते हैं। अकेले माजुली में ही सामागुरी सत्र, नरसिंह सत्र, कमलाबारी सत्र, बिहिमपुर सत्र जैसे सत्रों में मुखौटा कला का अभ्यास और प्रशिक्षण हो रहा है। सामागुरी सत्र सर्वाधिक पुराना सत्र है जहाँ से मुखौटा कला प्रारम्भ हुई। मुखौटों के निर्माण एवं कला के प्रति पूर्ण समर्पण के लिए सामागुरी सत्र कई राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित हो चुका है। सत्र के प्रसिद्ध मुखौटा कला डॉ. हेमचंद्र गोस्वामी (गुरुजी) आज भी मुखौटों के निर्माण एवं प्रशिक्षण कार्य में लगे हुए हैं। हेमचंद्र गोस्वामी के अतिरिक्त स्वर्गवासी कुशाकांत गोस्वामी भी प्रसिद्ध मुखौटा कलाकार हुए हैं जिनके मार्गदर्शन में कई लोगों ने मुखौटा शिल्प की शिक्षा ली। यहाँ निर्मित मुखौटे भाओना के अतिरिक्त विभिन्न लोकानुष्ठानों एवं त्योहारों पर भी पहने जाते हैं। मुखौटे को धारण करने के बाद व्यक्ति अपने मूल चरित्र को खोकर नए चरित्र में अपने को महसूस करता है। पौराणिक चरित्रों की कल्पना करके परकाया प्रवेश की अनुभूति प्रदर्शन को रोचक एवं प्रभावशाली बनाता है। प्रदर्शन के अवसर पर दर्शकों में चरित्र के प्रति श्रद्धा, घृणा, क्रोध आदि मनोभावों का आलोड़न-विलोड़न होता रहता है। नायक एवं सत्कर्म कर रहे चरित्र के प्रति श्रद्धा एवं देवत्व भाव का विकास होना स्वाभाविक है, इसी प्रकार राक्षसी वृत्ति धारण किए चरित्रों के प्रति क्रोध एवं घृणा का भाव पनपना स्वाभाविक है। यह मुखौटों के प्रयोग की सफलता ही है कि असमिया जनमानस आज भी भाओना (अंकिया नाटकों की प्रदर्शन पद्धति) के समय अपने दैनिक जीवन से समय निकालकर प्रतिभाग करता है। इनके प्रदर्शन में सजीवता मुखौटों के कारण ही आती है। असम के लोगों में आज भी नाट्य प्रदर्शनियाँ आकर्षण का विषय बनी हुई हैं, इसका कारण लोगों का अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति सचेत होना ही कहा जाएगा। मुखौटा कला का एक अन्य आयाम हस्त कला के विकास से जुड़ा हुआ है। हस्त कला के विकास में मुखौटा एक उल्लेखनीय भूमिका का निर्वहन कर रहा है। ये मुखौटे स्वदेशी संस्कृति के उच्चतम नमूने तो हैं ही, साथ ही पांच शताब्दियों पुरानी सांस्कृतिक विरासत का प्रतिनिधित्व भी कर रहे हैं। पंद्रहवीं शताब्दी के नववैष्णव आंदोलन और उसके प्रभाव में विकसित हुई यह कला आज भी अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए है।

मुखौटा शिल्प कृषि संस्कृति का भी अभिन्न अंग है। आदिवासी समाज और विभिन्न जनसमुदायों में मुखौटे उनकी आस्था और विश्वास से जुड़े है। असम में इनकी प्रसिद्धि तो है ही, इसके साथ ही देश के अन्य भागों एवं विदेशों में भी ये आकर्षण का विषय बन रहे हैं। आरम्भ में ये मुखौटे लकड़ी एवं धातुओं से निर्मित किये जाते थे। इन मुखौटों में आज की भांति आकर्षण एवं नक्काशी नहीं होती थी। कालांतर में शंकरदेव के अनुयायी शिष्यों ने दिनोंदिन इस कला में परिष्कार एवं सुधार किया। आज के मुखौटों में विविधता भी है और सौंदर्य भी।

मुखौटा कला के क्षेत्र में माजुली का सामागुरी सत्र विश्व प्रसिद्ध है। यहाँ पर मुखौटा कलाकारों की एक लंबी परंपरा रही है। मुखौटा कला के क्षेत्र में इस सत्र के ऐसे ही एक प्रमुख कलाकर हैं- डॉ. हेमचंद्र गोस्वामी। हेमचंद्र गोस्वामी मुखौटा कला के क्षेत्र में एक प्रतिष्ठित कलाकार हैं। हेमचंद्र जी के निर्देशन में राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर 'भाओना' का प्रदर्शन होता रहता है, जिसमें मुखौटों का बहुतायत मात्रा में प्रयोग होता है। कला और संस्कृति के क्षेत्र में उत्कृष्ट योगदान के लिए वर्ष 2017 में गौहाटी विश्वविद्यालय ने हेमचंद्र गोस्वामी को डॉक्ट्रेट की उपाधि से सम्मानित किया। इसके अलावा डॉ. गोस्वामी को 2018 के संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से भी पुरस्कृत किया जा चुका है। जनवरी 2018 में हेमचंद्र जी के निर्देशन में विभिन्न कलाकारों ने भारतीय गणतंत्र दिवस के अवसर पर माजुली के मुखौटों की झांकी निकाली थी, जिसमें इन मुखौटों को द्वितीय स्थान प्राप्त हुआ था। हेमचंद्र गोस्वामी पिछले कई वर्षों से इस कला का प्रशिक्षण सत्र में शिष्यों और देश-विदेश से आने वाले पर्यटकों को दे रहे हैं।

पिछले कई वर्षों से हेमचंद्र गोस्वामी इस महान कला को जीवित रखते हुए नवोदित कलाकारों को इसकी समृद्ध विरासत का प्रशिक्षण देते आ रहे हैं। ये मुखौटे स्वदेशी कला और संस्कृति के उच्चतम नमूने हैं और साथ ही इस कला के माध्यम से राष्ट्र की सांस्कृतिक निरंतरता को भी विश्वस्तर पर पहचान मिल रही है। दिनों-दिन इन मुखौटों की मांग विदेशों में बढ़ती जा रही। पूरी तरह प्राकृतिक संसाधनों से बने ये मुखौटे ब्रिटिश संग्रहालय में भी अपनी जगह बनाये हुए हैं, जहाँ वे पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र बने हुए हैं।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि असम में मुखौटा कला का इतिहास श्रीमंत शंकरदेव के नववैष्णव आंदोलन से बहुत गहराई से जुड़ा हुआ है। शंकरदेव ने कला और संस्कृति सहित विभिन्न क्षेत्रों में नवीन प्रयोग किए जिनकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

संदर्भः-

1. लोहित के मानस पुत्र, सांवरमल सांगानेरिया, भूमिका हेरिटेज फाउंडेशन, गुवाहाटी, द्वितीय संस्करण, 2011

2. महाकवि शंकरदेव : विचारक एवं समाज सुधारक, डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 2015, पृष्ठ- 11

3. The Neo- Vaisnavite Movement and the Satra Institution of Assam, S.N. Sharma, Department of Publication, Gauhati University, 1966, P.103

4. Sunil Kothari, Sattriya Classical Dance of Assam, The Marg Foundation, mumbai, 2013, P. 82

5. The Rich Heritage of Island Majuli, Amulya Chandra Borah,Digitech Printers, Majuli, 2017, P.93

ई. मेल -mishraaditya336@gmail.com

❖❖❖

श्रीमंत शंकरदेव द्वारा पोषित मूल्यों में व्याप्त लोकतंत्र

वैभव सिंह

नया होना ही नए होने की एकमात्र शर्त नहीं है, नया वह भी है जो कभी पुराना नहीं होता। मुझे याद आता है, हमारी माध्यमिक शिक्षा की हिन्दी 'मञ्जरी' में एक पाठ आता था 'कौन बनेगा निंगथउ (राजा)?' कहानी मणिपुर की एक लोक कथा पर आधारित है। कंगलाइपक का राजा अपने उत्तराधिकारी की तलाश में अपनी ही संतानों में एक प्रतियोगिता रखता है जिसमें राजा के तीनो पुत्र सानाजाउबा, सानायायमा और सानातोम्बा अपने अपूर्व बल का प्रदर्शन करते हैं। सानातोम्बा तो अपने पराक्रम से बरगद के पुराने वृक्ष को ही उखाड़ फेकता है। इन सब घटनाओं के बीच, राजकुमारी सानातोम्बी बरगद के वृक्ष के पास खड़ी होकर विलाप कर रही थी। उसे इस कृत्य में वीरता कम, क्रूरता अधिक दिख रही थी। वह पक्षियों के घोंसले उजड़ जाने से दुःखी थी। वह वटवृक्ष के मर जाने से अत्यन्त व्याकुल थी। अन्त में राजा, उसकी प्राणिमात्र के लिए संवेदना देख कर उसी को तुंगी (उत्तराधिकारी) चुनते हैं। पराक्रम पर मानवीय संवेदना और प्रकृति प्रेम की जीत होती है। उत्तर-पूर्व भारत की, प्रकृति और प्राणिमात्र के प्रति यह संवेदना जगद्विख्यात है, जो समय समय पर किस्सों कहानियों के माध्यम से हमें सुनाई पड़ती रहती है। यह कहानी इतिहास के प्राचीर पर कहीं मध्य में अंकित है लेकिन इसका सन्देश नित-नवीन है। इसका अनुभव मुझे तब होता है जब मैं दिल्ली में अपने उत्तर-पूर्व भारत के किसी मित्र से मिलने जाता हूँ। उसके घर की बॉलकनी, हमारे घरों की बॉलकनी से अलग, आधारभूत अन्तर लिए होती है। वहाँ पक्षियों के लिए भी जगह है, तितलियों के लिए भी, लताओं के लिए भी और गमले में जीविका कर सकने वाले छोटे पौधों के लिए भी। यह है हमारा भारत। यही है हमारा भारत, जिसकी नींव डालने में कुछ गणमान्यों ने अपनी जान खपा दी, अपना सब 'अमूल्य' दे दिया, मूल्य निर्धारण के लिए। यहाँ के लोकतंत्र का लोक मनुष्यों से आगे बढ़कर पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, पहाड़-नदियों तक विस्तृत है। सबने अपनी-अपनी रीतियों, क्रिया विधियों से अपना कार्य किया। श्रीमंत शंकरदेव ने अपनी रीति से, बदलापद्म-आता ने अपनी रीति से, लाचित बरफुकन ने अपनी रीति से, रानी गाईदिन्ल्यू ने अपनी रीति से और भूपेन हजारिका ने अपनी रीति से। अहोम सेना में सेनापति रहे लाचित बरफुकन और ब्रिटिश साम्राज्यवाद से नागाओं की रक्षा के लिए क्रान्ति का बिगुल फूंकने वाली रानी गाईदिन्ल्यू का स्पष्ट मानना था की कभी-कभी अहिंसा की चिर स्थापना के लिए शस्त्र उठाना भी अनिवार्य हो जाता है। यही जागरण, भारत रत्न भूपेन हजारिका ने अपनी संगीत के माध्यम से किया। रीतियां सबकी अलग रही, लेकिन लड़ाई एक ही मूल्य की स्थापना को लेकर रही है, और वह मूल्य हैं अहिंसा की स्थापना का, प्रकृति-प्रेम का, जीवन में जीवटता और हरियाली का। हमनें सबका अच्छा और शिव ग्रहण किया, बिना किसी भेदभाव के। ऋग्वेद का ऋषि घोषणा करता है ''आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरितासउद्भिदः।''[1] अर्थात 'कल्याणकारक, न दबने वाले, पराभूत न होने वाले, उच्चता को पहुँचाने वाले शुभकर्म चारों ओर से हमारे पास आयें।'

15वीं शती में जन्मे श्रीमंत शंकरदेव को जब अपने अस्तित्व में कसमसाहट महसूस हुई तो वह संपूर्ण भारत की यात्रा पर निकले और दो बार उन्होंने संपूर्ण भारत की यात्रा की। वह केदारनाथ से रामेश्वरम और जगन्नाथपुरी से द्वारिका तक गए। इस यात्रा से वो जो लेकर लौटे वह है 'विविधता में एकता' 'महान सांस्कृतिक परंपराओं में झंकृत मौलिक एकात्मवाद'। कालान्तर में इसी पूँजी से उन्होंने समस्त उत्तर-पूर्व भारत को, प्रकारान्तर में समस्त भारत को अध्यात्म, मानवता और सांस्कृतिक समृद्धि के उत्स पर लाकर खड़ा कर दिया। उनकी इस आध्यात्मिक झंझावतो के समक्ष भारत के सारे भौतिक उच्चावच ध्वस्त हो गए। यह उनके तमाम साहित्यों, सत्रों एवं नामघरों में अभी भी पुंजीभूत है। श्रीमंत को भारत वर्ष से गहरा लगाव है। एक स्थान पर वह लिखते हैं ''कोटि-कोटि जन्म अंतरे जाहार, आसे महा पुन्यराशि, सिशि कदाचित मनुष्य होवय, भारतवरिषे आसि।''[2] यह वास्तव में ऋषियों के उसी उद्घोष का छायानुवाद है जो सदियों पहले गाया गया था। ''गायन्ति देवाः किल गीतिकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे। स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूत भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात।।''[3] यह वही प्राचीन सत्य है जो नित-नवीन है। जिसे ऋषियों और मनीषियों ने समय-समय पर अपनी वाणी में कहा। प्राणिमात्र के प्रति भारतीय मूल की वही दया और करुणा और मानवता श्रीमंत को जीवन भर उद्वेलित करती रही और उस शुभ उद्वेलन का परिणाम है 'एकशरणम नामधर्म'। श्रीमंत ने आदिवासी जनजातियों यथा गारो, आदी, भोटा, मिरी, यवना, असमा, कछारी आदि को समाज की मुख्य धारा में लाने के लिए काम किया। समाज के हर व्यापार में उनकी भागीदारी को सुनिश्चित किया। इनके अन्तर तथा बाह्य को जागृत कर नव-वैष्णववाद द्वारा समतामूलक समाज के मार्ग को प्रशस्त किया। जिस समय श्रीमंत शंकरदेव का जन्म हुआ था वह समय उत्तर और पूर्व भारत में शाक्तों का था। शाक्त, अनियंत्रित होकर बाह्याचार और वामाचार का अभ्यास किया करते थे। उनको, उस समय के अहोम, कोंच और कछारी राजाओं का संरक्षण प्राप्त था और वो अपनी इच्छा अनुसार, शक्ति की आराधना के आड़ में एक बड़ी संख्या में नरबलि और पशुबलि दिया करते थे। श्रीमंत शंकर ने अहोम राजाओं को प्रभावित कर, उत्तर-पूर्व भारत को शाक्तों के इस अन्धविश्वास से मुक्त कराया और वैष्णवों की अहिंसा और दया का प्रचार किया। छोटे-छोटे समुदायों और कबीलों में बँटे लोगों को 'एकशरणम नामधर्म' के द्वारा जोड़ा और उनको नाम स्मरण

की महिमा बताई। आत्मा और परमात्मा के बीच में बिचौलिए की भूमिका को निस्तेज किया। बाह्याचारों से मुक्ति दिलाकर भारतीय दर्शन और अध्यात्म का लोकभाषा (ब्रजबुलि) में प्रचार किया। नाम धर्म को मानवधर्म का पर्याय बनाने के लिए प्राण खपा दिए। श्रीमंत की भक्ति, भक्त कवियों की भक्ति की तरह भावनात्मक प्रेमोत्पाद और गलदश्रु नहीं थी। वह बाह्याचारों में आकंठ डूबे तत्कालीन समाज के सामाजिक उन्नयन और संगठन की सूत्रधार थी। डॉ नगेन्द्र अपनी पुस्तक 'मिथक और साहित्य' (1979) में शंकरदेव के बारे में लिखते हैं ''शंकरदेव ने भागवत पुराण को अपना उपजीव्य ग्रन्थ बनाकर भक्ति विषयक विचार प्रस्तुत किये हैं। आत्म-समर्पण की भावना की स्वीकृति होने से यह भक्ति संप्रदाय, अन्य वैष्णवों से कुछ भिन्न लक्षित होता है, किन्तु मूल विचार में भेद नहीं हैं। इनकी भक्ति में दास्य भावना का प्राधान्य है। दास्य भावना की भक्ति के कारण इन भक्तों को 'शरणिया' शब्दों से भी अभिहित किया जाता है।''[4] यह शरणिया भक्ति, वैष्णवों के मानवता वाद और अहिंसावाद से ही अपने प्राण खींचती है। डॉ बिमल फूकन अपनी पुस्तक 'Shankar Dev : Vaishnav Saint Of Assam' (2011) में लिखते हैं ''Social Reforms was Shankardeva's main agenda. His religion, a means of his people to climb out of the abyss they found themselves in. He knew the faith needed, to be liberal, practical, universal and accessible. Above all, it had to appeal the audience it was aimed at. Mere issuing of doctrinal message was not enough. One had to create the ways and means to carry it to people. For it, to be successful, it need to be administered with kindness, aberrations dealt with firmly.''[5]अर्थात 'सामाजिक सुधार, शंकरदेव की मुख्य कार्यावली थी। उनका धर्म, उनके लोगों को, उनके अन्तर्मन और समाज में व्याप्त गहरे गड्ढे से बाहर निकलने का एक साधन था। उन्हें विश्वास था कि श्रद्धा को उदार, व्यावहारिक, सार्वभौमिक और सुलभ होना चाहिए। केवल सैद्धांतिक संदेश जारी करना पर्याप्त नहीं था। इसको लोगों तक ले जाने के लिए तरीके और साधन की आवश्यकता थी। सफल होने के लिए, इसे दयालुता के साथ प्रशासित करने की आवश्यकता थी। श्रीमंत की इन्ही आधारभूत भूमिकाओं और संस्थाओं को महात्मा गाँधी अपनी राजनैतिक परिधि में लेकर आए। उन पर टिप्पणी करते हुए श्री गाँधी अपनी एक पत्रिका में लिखते हैं ''असम भाग्यशाली है कि शंकरदेव ने पाँच सौ साल पहले इसके लोगों को ऐसा आदर्श प्रदान किया जो मेरे रामराज्य का आदर्श है।''[6]

रामकथा भारतीय जनमानस में गहरे तक व्याप्त है। गाँव की चौपालों से लेकर संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों तथा पुराणों तक राम रमे हैं। राम को सब ने अपने-अपने सुविधा के अनुसार अपनाया है। राम सबके हैं। बौद्ध और जैन विद्वान भी राम के व्यक्तित्व की आदर्शवादिता को देखते हुए उन्हें अपनी परिधि में लेने की कोशिश करते हैं। अब तक लगभग 300 तरह की रामायण अपने विक्षेप के साथ प्रकाश में हैं। रामकथा का मूल स्रोत तो आदिकवि वाल्मीकि कृत रामायण है। उसके बाद रामकाव्य की परंपरा में जयदेव, कालिदास, कम्बन, अनुत्तच्चन, नागचन्द्र, संत एकनाथ, कृत्तिवास, चकबस्त, माधवकन्दली, बाबा तुलसीदास आदि अन्य कवियों तथा संतों ने इसे आगे बढ़ाया। राम धीरज, मर्यादा तथा प्रजारंजन के शिखर पुरुष हैं। किसी भी सभ्य समाज को ऐसे ही व्यक्तित्व पसंद आते हैं जो हर प्रकार से लोक रंजक तथा प्रजारंजक हों। राम में ये सारे गुण विद्यमान हैं और वह आवश्यकता पड़ने पर योद्धा भी हैं। यही कारण हैं कि राम, श्रीमंत शंकरदेव के रचनात्मक परिधि में भी आए। श्रीमंत ने अपनी रचनाओं 'उत्तरकाण्ड' और 'राम विजय' में राम के विभिन्न रूपों का वर्णन सरसता और सरलता में करके उत्तर-पूर्व भारत के जनमानस पर एक अमिट हस्ताक्षर छोड़ दिया। अगर हम मध्यकालीन सन्त कवियों को ध्यान से पढ़ें तो लगभग सभी, कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी बिन्दु पर संकीर्ण दिखते हैं। महा-प्रगतिशील होने का दावा भरने वाले कबीर में भी महिलाओं के लिए चरम-संकुचन विद्यमान हैं। कबीर के मानवतावाद में आधी आबादी की चिन्ता धुंधली है। अन्य सन्त कवियों में भी अपने आराध्य के प्रति चरम निष्ठा तथा अन्य के आराध्यों और सम्प्रदायों के प्रति विद्वेष, निन्दा और उपेक्षा का भाव हैं। निष्कर्षतः कह सकते हैं की मध्यकाल के कमोबेश सभी सन्त कवियों में लोकतंत्र का अभाव है। श्रीमंत इस मामलें में अपना एक विलक्षण स्थान रखते हैं। वो ब्रज यात्रा पर कृष्णकवियों से मिलते हैं, ब्रजभाषा सीखते हैं, कृष्णभक्त बनते हैं, असमिया भाषा से ब्रजभाषा का मेल करके एक नयी और लोकसंपृक्त भाषा 'ब्रजबुलि' का निर्माण करते हैं लेकिन वो राम के आदर्श को देखते हुए, उनमें व्याप्त लोकरंजन और लोकतंत्र को देखते हुए, उन पर लेखनी चलाने से परहेज नहीं करते। वह 'राम' पर लिखते हैं और सारगर्भित लिखते हैं। राम में व्याप्त हर उस मूल्य को उजागर करते हैं जिससे समाज को समरस बनाने में सहायता मिले। श्रीमंत के रचना संसार को देखते हुए कह सकते हैं कि जो कार्य हिन्दी क्षेत्र में कबीर, दादूदयाल, बाबा तुलसी, आचार्य बल्लभ, सूरदास, परमानन्ददास, सुन्दरदास, रामानन्द ने मिलकर किया, वह श्री शंकरदेव ने पूर्वोत्तर भारत में अकेले ही किया। यहाँ पर सुन्दरदास और सूरदास का नाम इसलिए भी लिया गया हैं, क्योंकि श्रीमंत की कविताओं में आवश्यक काव्यशास्त्रीय खुराक भी है और अपेक्षित राग-रागिनियाँ भी हैं। शंकरदेव ने अपने सत्रों और नामघरों में अंकिया और बरगीतों के मंचन के लिए कुछ-कुछ वाद्ययंत्रों का निर्माण भी किया है। श्रीमंत शंकरदेव इसलिए महत्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि उनमें लोकतंत्र 500 वर्ष पहले ही अपने नवीन रूप में विद्यमान था।

सन्दर्भ :-

1- ऋग्वेद, प्रथम मण्डल, 89वाँ सूक्त (शान्ति सूक्त)

2- श्रीमंत शंकरदेव बरगीत

3- विष्णु पुराण, द्वितीय अध्याय, 34वाँ श्लोक

4- डॉ नगेंद्र : मिथक और साहित्य (1987) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या 84

5- Phukan, Bimal ; Srimanta Shankardeva : Vaishnav Saint Of Assam (2017) Partridge Publishing India, Page No. 97

6- गाँधी, मोहनदास करमचन्द : यंग इंडिया पत्रिका (1921)

ई. मेल -kumarvvs2020@gmail.com

❖❖❖

श्रीमंत शंकरदेव और गुरु जम्भेश्वर की वाणी का सामाजिक सरोकार

रवि कुमार

मध्यकाल के उदय के साथ, भारतीय समाज में स्वर्ग और नरक की चिंता बढ़ती चली जा रही थी। समाज, धर्म के नाम पर बँट रहा था, जाति-पाति, अन्धविश्वास, मूर्तिपूजा आदि रूढ़ियों में जनसमूह फंसता चला जा रहा था। ऐसे समय में समाज को सही राह पर लाने का काम संतों ने अपनी वाणी से किया। ''संत कवियों ने अपनी वाणी के माध्यम से सामाजिक विभेद को पाटने का काम किया और 'मानुष प्रेम' को अपनी वाणी का मूल स्वर बनाया।''[1] गुरु जम्भेश्वर और श्रीमंत शंकरदेव की अहम् भूमिका इस सामाजिक समरसता में रही है। इन दोनों ही संतों की मूल चिंता सामान्य जन को ऊँचा उठाने और लोक कल्याण की ओर उन्मुख करने की रही है। दोनों संत एक-दूसरे के समकालीन थे, गुरु जम्भेश्वर का जन्म राजस्थान के पीपासर नामक गाँव में 1451 ई. को हुआ और श्रीमंत शंकरदेव का जन्म भी 1449 ई. में असम में हुआ। ''दोनों ही संत, गौतम बुद्ध की तरह अपने दुख और पीड़ा को भूल कर समाज के लिए चिंतित होते हैं और उनके लिए संघर्ष करते हुए अपने शरीर का परित्याग कर देते है।''[2]

समाज में शास्त्र के नाम पर धर्म को चलाने वाले पाखंडियों ने अनेक बंदिशे लगा रखी थी, जिसका खामियाजा आम जनता भुगत रही थी। इसलिए इन संतों ने कागज पर लिखी बातों को झुठलाते हुए आँखों देखे सच को समाज का धर्म बनाया, ''तेरा मेरा मनुवां कैसे एक होइ रे/ मैं कहता हौं आँखन देखि, तू कहता कागद की लेखी।''[3] अनुभव से प्राप्त सत्य को इन संतों ने अपनी वाणी का मुख्य आधार बनाया। संतों की एक लंबी परंपरा समाज में मौजूद रही है, यह केवल उत्तर भारत तक सीमित नहीं रही बल्कि दक्षिण, पूरब और पश्चिम सभी तरफ संत परंपरा मौजूद रही, लेकिन इन सभी संतो के अनुभव का सत्य एक-सा रहा। इसकी एक वजह यह हो सकती हैं कि सत्य चाहे किसी युग का या समाज का क्यों न हो, सत्य हमेशा सत्य ही रहेगा उसे दबाया या कुचला नहीं जा सकता है और एक दूसरी वजह इन संतों का यायावर प्रवृत्ति का होना है। समाज के इन संतों ने ज्ञान प्राप्त करने या उसमें वृद्धि के लिए यात्राएं की, और समाज के भोगे हुए सत्य को अपनी वाणी का रूप दिया। गुरु जम्भेश्वर और श्रीमंत शंकरदेव ऐसे ही संत हैं जिन्होंने ज्ञान प्राप्ति के लिए भारत का भ्रमण किया। गुरु जम्भेश्वर कहते हैं कि-

''गाँव सुंदरियो, छील बलदियो छंदे मंदे भालदियौ
अजमें हुंता नागोवाड़ै रणथंभोर गढ़ गागरणों।
फिरि फिरि दुनियां परखि लहूं
थटै बंभणिया और गुजरात आछोजाई सवालाख
मालवै परबत मांडू मांहे न्यांन कथूं।
खुरासांण गढ़ लंका भीतरि गूगन खेयौ परठयौ।...
किहं गुण सायरा मीठो हुंतो किहि औगंण हुवो खार खारूं।''[4]

श्रीमंत शंकरदेव भी गुरु जम्भेश्वर की तरह ही भारत का भ्रमण कई वर्षों तक करते हैं। भारत भ्रमण के दौरान अनेक संतों से शंकरदेव की भेंट-वार्ता हुई और अनेक अन्य संतों के बारे में जानने और सुनने को भी मिला। साथ ही अन्य संतों की वाणी से भी उनका परिचय मिलता है। शंकरदेव अपनी वाणी में इस बात का उल्लेख भी करते हैं। ''उरेषा वाराणसी ठावे ठावे।/ कबिर-गीत शिष्ट सबे गावे।।''[5] शंकरदेव ने भारत के लगभग सभी प्रमुख तीर्थस्थलों की यात्रा की है, ''जिनमें प्रमुख थे- काशी, गया, मथुरा, वृंदावन, प्रयाग, बदरिकाश्रम, द्वारका, रामेश्वरम आदि। इन सभी स्थानों में शंकरदेव ने वैष्णव धर्म का महत्त्व प्रतिपादित किया और लोगों में भागवत धर्म के प्रति चेतना जागृत की। वह सबसे अधिक दिनों तक जगन्नाथपुरी में रहे, जहाँ उन्हें भक्ति योग का ज्ञान हुआ।... अपनी यात्रा के दौरान शंकरदेव ने जहाँ एक ओर लोगों में नई विचार-क्रांति जागृत की, वहीं समाज को भागवत धर्म का मर्म समझाकर उसे नई चेतना दी।''[6] भारत भ्रमण से लौटने के बाद शंकरदेव ने सांसारिक जीवन को त्यागते हुए अपना सारा जीवन ग्रन्थ रचना और सामाजिक सरोकार में लगा दिया, वह अपने परिवार के लोगों से यह कहते भी हैं कि, ''अब इन सांसारिक कर्मों में मेरा चित्त नहीं रमता। अब यह कर्म तुम्हीं लोग करो। मैं तो अब ग्रन्थ और पद की रचना करूँगा।''[7]

गुरु जम्भेश्वर और श्रीमंत शंकरदेव दोनों ही भारत भ्रमण करते हैं, परन्तु दोनों एक दूसरे से मिले हो इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। लेकिन दोनों ही संत 'वैष्णव धर्म' को समाज के लिए स्थापित करते हैं। जहाँ ऐसे समय में जब संपूर्ण भारतवर्ष में मुस्लिम आक्रमणकारी एवं मुस्लिम शासन-स्थापित हो रहा था और यह शासन अपने धर्म के प्रचार-प्रसार व विस्तार में लगा हुआ था, ऐसे समय में गुरु जम्भेश्वर और श्रीमंत शंकरदेव विष्णु और हरि नाम के जाप का मंत्र समाज को दे रहे थे। गुरु जम्भेश्वर कहते हैं कि, ''विसन विसन तूं भणि रे प्रांणी''[8], वहीं श्रीमंत शंकरदेव लिखतें हैं कि, ''कलिर धर्म्म हरि नाम जान।''[9] इस विष्णु के जाप से प्रभावित होकर गुरु जम्भेश्वर 'बिश्नोई पंथ' की स्थापना करते हैं और श्रीमंत शंकरदेव 'एकशरण-नाम धर्म' को स्थापित करते हैं। इन दोनों ही धर्मों में किसी भी जाति, संप्रदाय, धर्म, राजा, प्रजा का इंसान इस धर्म को अपना सकता था। दोनों ही धर्म 'वैष्णव सम्प्रदाय' के एकमात्र आराध्य-भगवान विष्णु के उपासक हैं। विष्णु का जाप करने से ही सारे दुःख और पीड़ाओं का अंत हो जायेगा और आत्मा को बैकुंठ की प्राप्ति भी हो जाएगी। गुरु जम्भेश्वर कहते हैं कि, ''विसन विसन तूं भणि रे प्रांणी, पैकें लाख उपाजूं। रंतन कया वैकुंठै वासो, जूरा मरण भोव भाजूं।।''[10] श्रीमंत शंकरदेव भी इसी तरह भगवान विष्णु की कथा सभी जन को सुनने भर से उसका भला हो जाने की बात करते हैं - ''कृष्ण चरित्र शुनियोक सर्व जने।/ जीवन्ते नेरिबे बहुमान धने-जने।। / मरिलेओ थिति मूल्य

प्रति देखें विष्णुर पुरीत।/ इहलोके-परलोके दुयो लोके हित।।''[11]

प्रेम के इस धर्म को मनुष्य इतनी आसानी से नहीं समझ सकता है, क्योंकि यह समाज अनेक धर्मों, जातियों, अंधविश्वासों और मन के द्वंद्व में घिरा हुआ है। ''दोय दिल दोय मंन सीवी न कंथा, दोय दिल दोयमंन पुलिय न पन्था।''[12] उसके लिए क्या अच्छा है और क्या बुरा इसकी समझ वो खो चुका है, क्योंकि समाज को चलाने वाले पंडित, साधु, काजी सभी पथ से भटक चुके हैं, - ''बामण था ते वेदे भूला, काजी कलम गुमाई।/ जोग विहूंणां जोगी भूला, मुडियै अकलि गुमाई।''[13] खोए हुए इस समाज को पथ पर लाने का कार्य केवल अच्छा गुरु कर सकता है, क्योंकि गुरु की महिमा से हम अपने जीवन का निर्माण कर सकते हैं। संत कवियों ने गुरु को जीवन में सर्वोपरि माना है। लगन के साथ श्रवण द्वारा तथ्यों पर विचार करना, परखना, मनन करना और सही निष्कर्ष पर पहुँचना गुरु के द्वारा ही संभव है। ''गुरु प्रसादे केवल ग्यांने''[14]। श्रीमत शंकरदेव भी गुरु की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि, ''करता जो जन भक्ति-ज्ञान प्रदान।/ करता जो उसकी सेवा, तर जाता संसार सुजान।।/ अतः वही है नरोत्तम बुद्धिमान।/ जगत में और नहीं कोई उसके सामान।।/ भक्ति ज्ञान दाता गुरु बिन नहीं कोई सेवा-वंदन।/ बार बार समझाया तुम्हें, समझ लो कथन।''[15] एक अच्छा गुरु ही जीवन को नाव को सही से किनारे तक पहुँचा सकता हैं। ''यह नर-नर है नाव सुदृढ़, सुसार।/ उपदेश दाता गुरु इसके खेवनहार।।''[16] गुरु जम्भेश्वर जीवन के कल्याण के लिए गुरु के बताए आदर्शों पर चलने की बात करते हैं, ''सतगुर मिलियौ सतपंथ बतायौ, वेद गरथ उदगारूं।''[17] गुरु जम्भेश्वर आगे कहते हैं कि, ''सतगुर मिलियौ सतपंथ बतायौ भ्रांति चुकाई/ अवर न बूझिबा कोई।''[18] सतगुरु के बताए हुए रास्ते पर चल कर ही इन सभी संतों ने समाज की आँखों पर पड़े अन्धकार के परदे को हटाने का काम किया और इस अन्धकार को दूर करने के लिए संतों ने लोकभाषा को आधार बनाया।

मध्यकालीन संतों की सबसे बड़ी खास बात यह थी कि उन्होंने अपनी वाणी को लोक तक पहुँचाने के लिए किसी शास्त्रीय या राजा की भाषा का अनुकरण नहीं किया बल्कि 'लोक भाषा' को अपनी वाणी का आधार बनाया, जिस तरह गौतम बुद्ध ने समाज कल्याण के लिए पालि को अपने उपदेश का आधार बनाया था। कबीरदास, तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई, जायसी, ज्ञानदेव, तुकाराम, मलूकदास, नरसी मेहता आदि सभी संतो ने लोक भाषा को ही अपनी वाणी के लिए उपर्युक्त समझा। ठीक इसी तरह बिश्नोई एवं एकशरण धर्म को समाज तक पहुँचाने के लिए जम्भेश्वर और शंकरदेव ने लोकभाषा का चयन किया। जम्भेश्वर ने मरुप्रदेश के ग्रामीण समाज के बोलचाल की भाषा। 'ठेठ मरुभाषा' को चुना, क्योंकि गुरु जम्भेश्वर राजस्थान के मरूस्थलीय प्रदेश में रहते थे। ''हरी कंगहड़ी मंडप मैड़ी, तांहां हमारा वास।''[19] उन्होंने जनसाधारण के स्तर के अनुरूप ही अपनी शब्दावली को चुना। इसी जनसाधारण विशेष के कारण इनकी वाणी यहाँ के लोग-बाग को कंठस्थ याद है, आज भी बीकानेर, पीपासर आदि अनेक स्थलों पर इनकी वाणी बड़े चाव से गाई जाती है।

''कैंह का पित माई बहण र भाई
कैंह का पख परवारूं
भूली दुनिया मरि मरि जामैं
न चीन्हैं करतारूं।''[20]

भारत भ्रमण के दौरान शंकरदेव ने देश की एकता के लिए भाषा के महत्त्व को गहराई से समझा। शंकरदेव ने देखा कि वैष्णव धर्म-प्रचार में ब्रज बोली तथा मैथिली भाषा का बहुत बड़ा योगदान है। अतः असम में वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने लोक भाषा 'ब्रजबुलि' को चुना। इस सन्दर्भ में देवकांत बेजबरुआ लिखते हैं कि, ''शंकरदेव की भाषा-शैली दो प्रकार की थी। एक तो शुद्ध असमिया की तथा दूसरी ब्रज और मैथिली मिश्रित असमिया की। तीर्थयात्रा से पूर्व की रचनाओं की भाषा असमिया है और यात्रा से लौटने के बाद की कृतियों में दूसरे प्रकार की भाषा का प्रयोग मिलता है।''[21] शंकरदेव ने ब्रजबुलि भाषा में बरगीत एवं अंकीयानाट की रचना की।

''देवर मध्यत दैवकी नन्दन
धर्मर मध्यत नाम
दुइत परे तिनि नाइ-नाइ-नाइ
भकत पूरण काम।''[22]

मनुष्य की पहचान उसके कर्मों से है, कर्म ही सबसे बड़ा धर्म है। तुलसीदास इसी मान्यता को स्वीकार करते हैं, ''करम प्रधान विश्व रचि राखा। / जो जस करै सो तस फल चाखा।।''[23] संतों ने भक्ति के क्षेत्र में व्याप्त धार्मिक, सामाजिक संकीर्णताओं की अवहेलना की है। तभी इन संतों ने मन मन्दिर को प्रमुखता दी है और कहा है जहाँ दिल में प्रेम होगा वहीं प्रभु का वास होगा। गुरु जम्भेश्वर मन में मन्दिर होने की बात करते हैं और सभी तीर्थों को वे मन के भीतर ही मानते हैं। अगर आपका मन शुद्ध एवं प्रेम से भरा होगा तो ईश्वर के दर्शन आपको सामान्य जगह भी हो जायेंगे उसके लिए किसी तीर्थ यात्रा की आवश्यकता नहीं। ''अठसठि तीरथ हिरदै भीतरि, को को गुर मुखि विरला न्हायो''[24]। तीर्थ और धर्म के नाम पर समाज में जो आडंबर किए जाते हैं, गुरु जम्भेश्वर उस संदर्भ में कहते हैं कि, ''कोड़ि गऊ दे तीरथां दांनू/ पंच लाख तुरंगम दांनू।/''[25] कंण कंचन पाट पटंबर दांनू/ गज हसती दांनू अति बलि दांनू। संत कवियों ने मनुष्य की एकता पर सर्वाधिक बल दिया है। तभी इन संतों ने लोकहित के सिद्धांत पर धर्म और अधर्म की नई परिभाषाओं को निर्मित किया है। इन संतों ने जीवन मूल्य का मुख्य आधार मानस प्रेम को माना है, ''सब नर करहिं परस्पर प्रीति, चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति।''[26]

श्रीमंत शंकरदेव भी कर्म की महत्ता को स्वीकार करते हैं। परन्तु इस कर्म के लिए मन रूपी मंदिर को प्राथमिकता देते हैं। शंकरदेव मानते हैं कि यह मन ही किसी काम को करने से रोकता है और काम करने की इजाजत भी देता है। यह मन कभी स्थिर नहीं रहता हैं, -''नाना कर्म करिबाक करे आलोचना।/ एको कर्म स्थिर नोहे ताक बुलि मन।''[27] परन्तु मनुष्य को मन की चंचलता को समझना होगा, और अच्छे-बुरे की समझ भी बनानी होगी। इसीलिए मनुष्य को कोई भी कार्य शुद्ध आचरण से करना होगा, जिससे किसी का अहित न हो। शंकरदेव इसी कारण अपनी वाणी में शुद्ध मन से किये गए कार्य पर जोर देते हैं, क्योंकि अगर मन अशुद्ध होगा तो सारे कर्म विफल हो जायेंगे। ''अशुद्ध मन कर्म विफल।/ स्त्रवे येन आवाँ घटक जल।।''[28] यह शुद्ध मन ही आपके स्वर्ग और नरक का द्वार दिखाता हैं और यह मन ही आपको अपने-पराय का भेद भी बताता है - ''मने पाप पुण्य स्वर्ग मने से नरक। / मनेसे करिछे भेद आपोन परक।''[29]

संत वाणी की मुख्य चिंता मनुष्य को सिर्फ मनुष्य बनाने

की है और मनुष्यता उसका एक मात्र धर्म है। इस चिंता को गुरु जम्भेश्वर और श्रीमंत शंकरदेव दोनों ही अच्छे से जानते थे। मनुष्य धर्म और जाति में इतना पिस गया था कि वह अपनी मनुष्यता को भूल चुका था। इन दोनों ही संतों ने मनुष्य में मनुष्यता के गुण जाग्रत करने और मानव-जीवन को सार्थक बनाने का सही मार्ग दिखाने का काम किया और मनुष्य को सिर्फ मनुष्य बने रहने के लिए ही प्रेरित किया। शंकरदेव कहते हैं कि, ''इहेन मनुष्य तनु / सेन्थरे न पाइबा पुनु।''[30] मनुष्य को मनुष्य बनाने के साथ-साथ 'जीने की विधि' सिखाने का काम भी इन संतों ने किया। जो मनुष्य असफल, दिग्भ्रमित और उलझन में फंसे रह जाते हैं, उन्हें संघर्षशील जीवन में लक्ष्य तक पहुँचाने का सरल उपाय जम्भेश्वर बताते हुए कहते हैं कि, 'जीते-जी मरो, जीवनमुक्ति प्राप्त करो; पर वही ऐसा कर सकता है जो अपना कर्त्तव्य पालन करता है, ईमान की कमाई खाता है और सत्य को प्रमाण मानते है'। ''जीवत मरो रे जीवत मरो जिण जीवंण की विधि जांणी।/ जे कोई हो होय हरि करि आवै तो आपण होइयै पांणी।''[31] इसके आगे वह कहते हैं कि, 'इस संसार में तो निश्चय ही तेरा जीवन स्थिर नहीं रहेगा, तू मृत्यु से बच नहीं सकेगा। विरले पुरुष ही भली मूल का सिंचन करते है और परमतत्त्व को जानने का प्रयास करते है। जो जीवन की विधि जानते हैं, वहीं ऐसा कर सकते हैं'। ''जां जीवंण की विधि जांणी।/ जीवतड़ा कुछि लाहो होयसी, मूवां न आवै हांणी।''[32] जीने की विधि में मनुष्य के परोपकारी स्वभाव के होने पर भी इन संतों ने जोर दिया है। वृक्ष की तरह परोपकारी होने की बात इन सतों ने की है। जिस तरह वृक्ष बिना किसी अहित के सभी का हित चाहता है और सभी को अपने से सिर्फ लाभ पहुंचाता है ठीक उसी तरह मनुष्य को भी परोपकारी होना चाहिए। बिना किसी लालच के सभी की मदद करनी चाहिए - ''पर उपकारी तरु जनम सार्थक।/ संतर बिमुख जेन नुहिके पार्थक।।/ बाकलि पल्लव मूल पत्र पुष्पफल।/ जेइ जिबा चावे पावै वृक्षत सकल।।/ जीवनर साफल देहीर एहिमाने।/ जीवै पर उपकार करि अर्थे प्राणे।।'[33]

मध्यकालीन संतों ने अपने अनुभव के आधार पर मानव मूल्यों को समाज में स्थापित किया। समाज जहाँ मनुष्य और मनुष्यता के धर्म को खो कर जाति, धर्म, रूढ़ी, अन्धविश्वासों में बँट रहा था, ऐसे समय में गुरु जम्भेश्वर और श्रीमंत शंकरदेव ने एक देव वासुदेव और एक जाति मनुष्य जाति की संकल्पना का उदात्त आह्वान किया। दोनों ही संत अपनी वाणी से इस मानव समाज में युगों-युगों तक प्रासंगिक बने रहेंगे।

''मिलता कितने पुण्य से भारत में मनुष्य तन।
चिंतामणि-जन्म हाथों में खो जाता धन।।
टूट रही आयु क्षण क्षण, दिन दिन।
कलि में और कुछ नहीं, जानो हरि नाम बिन।।''[34]

संदर्भः-

1. 'मानुष प्रेम भयउ बैकुंठी'- पद्मावत - मलिक मुहम्मद जायसी, पृ. 223

2. कहीं एक स्वर्ग है या नरक है इसकी किसे चिंता है? आत्मा है या नहीं, इसकी किसे परवाह है? कोई अपरिवर्तनशील सत्ता है या नहीं, इसकी बारे में किसे व्यग्रता है? हमारे सामने यह संसार है और यह दुःख-पीड़ाओं से भरा हुआ है। इस संसार में उतरो, जैसे बुद्ध उतरे थे और इन दुःख-पीड़ाओं को कम करने के लिए संघर्ष करो या प्रयत्न करते हुए मर जाओ। अपने को भूलो 'यही पहला सबक सीखना है।' प्रैक्टिकल वेदांत-स्वामी विवेकानद

3. कबीर ग्रंथावली-माता प्रसाद गुप्त, पृ. 117

4. जम्भवाणी मूलसंजीवनी व्याख्या (सन्दर्भ सहित)-डॉ. किशना राम बिश्नोई, पृ. 236-237

5. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव-रामनिरंजन गोयनका, पृ. 5

6. शंकरदेव-हरिकृष्ण देवसरे, पृ. 9

7. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव-रामनिरंजन गोयनका, पृ. 6

8. जम्भवाणी मूलसंजीवनी व्याख्या (सन्दर्भ सहित)-डॉ. किशना राम बिश्नोई, पृ. 408

9. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव-रामनिरंजन गोयनका, पृ. 9

10. जम्भवाणी मूलसंजीवनी व्याख्या (सन्दर्भ सहित)-डॉ. किशना राम बिश्नोई, पृ. 412

11. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव-रामनिरंजन गोयनका, पृ. 15

12. जम्भवाणी मूलसंजीवनी व्याख्या (सन्दर्भ सहित)-डॉ. किशना राम बिश्नोई, पृ. 174

13. वही, पृ. 307

14. वही, पृ. 87

15. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव-रामनिरंजन गोयनका, पृ. 55

16. वही, पृ. 55

17. जम्भवाणी मूलसंजीवनी व्याख्या (संदर्भ सहित) - डॉ. किशना राम बिश्नोई, पृ. 93

18. वही, पृ. 166

19. जम्भवाणी मूलसंजीवनी व्याख्या (संदर्भ सहित) - डॉ. किशना राम बिश्नोई, पृ. 285

20. वही, पृ. 142

21. ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य - देवकांत बेजबरुआ, पृ. 420

22. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव-रामनिरंजन गोयनका, पृ. 23

23. रामचरितमानस- तुलसीदास, पृ. 363

24. जम्भवाणी मूलसंजीवनी व्याख्या (संदर्भ सहित) - डॉ. किशना राम बिश्नोई, पृ.70

25. वही, पृ. 138-139

26. रामचरितमानस- तुलसीदास, पृ. 467

27. श्रीमंत शंकरदेव : व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. भूपेंद्र रायचौधरी, पृ. 110

28. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव-रामनिरंजन गोयनका, पृ.-28

29. श्रीमंत शंकरदेव : व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. भूपेंद्र रायचौधरी, पृ. 110

30. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव-रामनिरंजन गोयनका, पृ.-28

31. जम्भवाणी मूलसंजीवनी व्याख्या (संदर्भ सहित) - डॉ. किशना राम बिश्नोई, पृ. 376

32. वही, पृ. 266

33. श्रीमंत शंकरदेव : व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. भूपेंद्र रायचौधरी, पृ. 113

34. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव- रामनिरंजन गोयनका, पृ. 61

ई. मेल - ravi17893@gmail.com

❖❖❖

नववैष्णव धर्म और श्रीमंत शंकरदेव

पुरबी कलिता

भारतीय भक्ति आंदोलन मध्यकालीन भारतीय परिस्थिति की उपज है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों की दयनीय अवस्था में यह आंदोलन उभरकर सामने आया था। राजनीतिक अस्थिरता, अराजकता, राज्यों-राजाओं में असहिष्णुता, अनेकता, पारस्परिक लड़ने-झगड़ने की प्रवृत्ति की प्रबलता, सामाजिक जीवन में अशिक्षा, कुशिक्षा, भ्रष्टाचार, अन्याय, अत्याचार, आर्थिक जीवन में खुले आम जमींदारों, अभिजात्य वर्ग के लोगों द्वारा शोषण, उत्पीड़न, अन्याय, धर्म के नाम पर पंडा-पुरोहितों द्वारा लूट,इस्लाम का व्यापक प्रभाव, मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दू धर्म और जनता पर किये गए अत्याचार, अपमान आदि चहुँ दिशाओं में अस्वस्थता थी, विपन्नता थी। युगीन परिस्थितियों को सामना करने के लिए कई संत-महात्मा सामने आये। उन महात्माओं का मूल लक्ष्य था समाज कल्याण, मानव कल्याण। फलस्वरुप संपूर्ण भारत में एक आंदोलन शुरू हुआ जिसे हम भक्ति आंदोलन के रुप में जानते है। दक्षिण में उसका ध्वजारोहण हुआ, फिर उत्तर भारत में और धीरे धीरे संम्पूर्ण भारत में उसका स्वर गूजने लगा। इस भक्ति आंदोलन ने भारतवर्ष के अन्य प्रांतों के समान उत्तरपूर्व क्षेत्र में भी विशेषत असम में व्यापक रुप से अपना विस्तृत प्रभाव डाला। संम्पूर्ण उत्तर पूर्वांचल में भक्ति आंदोलन के नारों का प्रचार करने में श्रीमंत शंकरदेव का योगदान महत्वपूर्ण है। असमिया जातीय जीवन में श्रीमंत शंकरदेव का अवदान अति महत्वपूर्ण है। महापुरुष शंकरदेव के समय से ही असम में भक्ति तथा साहित्य संस्कृति के नव जागरण का शंखनाद हुआ। अपनी प्रगतिशील चिंताधारा एवं युगांतकारी सोच के कारण असम के लिए ही नहीं समग्र भारतवर्ष के लिए श्रीमंत शंकरदेव अपूर्व, बहुआयामी तथा उज्वल व्यक्तित्व के अधिकारी सिद्ध हुए।

चरितपुथि के वर्णनानुसार महापुरुष शंकरदेव जगन्नाथ, पुरी, गया, काशी, प्रयाग, सीताकुंड, वराहकुंड, गोकुल, वृंदावन, गोवर्धन, कालीहद, मथुरा, कुरुक्षेत्र, रामहद, अयोध्या, द्वारिकाश्रम, सेतुकुंड, रामेश्वर आदि इन तीर्थों में रहकर महापुरुष शंकरदेव साधना के साथ-साथ साधु संतों से साक्षात्कार किये। शास्त्र-चर्चा एवं वाद-विवाद भी किये। इसके पश्चात वे पूरे भारत को एकता के सूत्र में बांधने हेतु असमिया एवं अन्य भाषाओं के मेल से ब्रजबुली भाषा का सृजन किये। शंकरदेव ब्रजबुली में लिखते थे। संम्पूर्ण भारतीयता के साथ अपने को, अपने समाज को मिलाने का उनका यह प्रयत्न बहुत ही प्रशंसनीय है। पूरे पूर्वांचल को जोड़कर पुनः भारत से जोड़ने का यह एक महाप्रयास है। शायद शंकरदेव नही होते, तो हम और पीछे रह जाते। यही कथ्य सुमित्र पुजारी के निबंध "Indian Bhakti Movement and Shankardev :His Role in Strenghthening the Cultural Bondage between Assam and the Rest of India" में भी है ---"As a student of History,I strongly believe that had there been no Shankardev,the socio-cultural bond of this region and the rest of India would have further weakened."[1]

सच्चे अर्थ में शंकरदेव देवदूत, समाज सुधारक, दार्शनिक, नाटककार, चित्रकार, संगीतज्ञ एवं लोकनायक संत थे।

मातृभूमि के रुप में भारतवर्ष का असम के साथ सर्वप्रथम परिचय कराने वाले श्रीमंत शंकरदेव ही रहे हैं। डॉ. विरिचि कुमार बरुवा का इस संबंध में वक्तव्य विशेष दृष्टव्य है -"The conception of India as our mother country was conceived by Shankardeva five centuries ago.He wanted the people to feel proud of being born in his holy country of Bharatvarsha,as she provides an immense opportunity for development of man's moral and spiritual potentialities.Repeatedly did he emphase the glorious and spiritual experiences of India .In many of his verses he spoke of the great heritage of this country Bharatvarsha."[2]

श्रीमंत शंकरदेव द्वारा प्रचारित धर्म को एकशरण नामधर्म कहा जाता है। इस भक्ति धर्म का प्रधान उद्देश्य एक ही ईश्वर भगवान कृष्ण के चरण में शरण लेना है। भगवान कृष्ण ही परमब्रह्म परमेश्वर।

शंकरदेव के समय में धार्मिक शोषण ने असम के जनसाधारण की जीवन यात्रा को बड़ा भयंकर बना दिया था। उस समय समाज अंधविश्वास से भरा हुआ था। मंदिर में देव-देवी के सामने बलि विधान जैसे घृणित कार्य चल रहे थे। महापुरुष शंकरदेव ने बलि विधान के विरोध में आवाज उठाई-

''नमारिवे पशुक एड़िवे मांस-आशा
देव को उद्देश्यि पशु नकरिवे हिंसा।''3

यद्यपि हमारी समाज व्यवस्था में जात-पात, ऊँच-नीच की भावना धीरे-धीरे शिथिल होती जा रही हैं, फिर भी उसे मिटाने में आज भी हम सफल नहीं हुए हैं। उस समय महापुरुष शंकरदेव इस व्याधि को मिटाने का अथक प्रयत्न कर रहे थे। श्रीमंत शंकरदेव ने असम के विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों को लेकर, धर्म प्रचार किया। नगा के नरोत्तम, भूटिया के दामोदर, गारो के गोविन्द, मिरि के परमानन्द,

मुसलमान के चाँद साँई भी थे। चाँद साँई के हाथों द्वारा सिलाई किया हुआ पंजाबी कुर्ता शंकरदेव ने खुद पहना था। नरेत्तम को नामघर में बुलाया गया था और कीर्तन करने के लिए अनुरोध किया था। डॉ. शिव आचार्य ने लिखा है –"He was invited to Namgharas and was inspired for stay in the Kirtanas. Sankar has never been found saying him 'Give up your Allah,do not offer your respect to him etc.' "His heart felt utmost devotion and listened attentively to what Sankardeva told."[4]

धर्म और भक्ति के माध्यम से श्रीमंत शंकरदेव ने भिन्न-भिन्न जनगोष्ठी को एक धारा में एकत्रित करने का सफल प्रयत्न किया था।

शंकरदेव द्वारा विरचित बरगीत उच्च नैतिक और आध्यात्मिक भावनाओं पर प्रतिष्ठित है। इसी कारण से उन्हें बरगीत अर्थात श्रेष्ठ गीत नाम से अभिहित किया गया। सच तो यह है कि आध्यात्मिकता के उत्कृष्ट आदर्श की ओर जन समाज का हृदय आकृष्ट करना ही असमिया गीति साहित्य में बरगीत की एतिहासिक विशेषता रही है। शंकरदेव ने बरगीत में कहा है।

''अथिर धनजन जीवन यौवन
अथिर एहु संसार।
पुत्र परिवार सबहि असार
करबो काहेरि सार।।''[5]

अर्थात धन-सम्पति, जीवन-यौवन, संसार, पुत्र-पत्नि सब कुछ क्षणिक है, इसलिए भगवान को स्मरण करना चाहिए, वही शाश्वत है। साहित्य द्वारा प्रतिष्ठित हुए बिना कोई भी आंदोलन सफल नहीं हो सकता और गीत ही ऐसे आंदोलन के सहायक होते हैं। बरगीतों के आकर्षण से ही कितने लोगों ने शंकरदेव का शिष्यत्व ग्रहण किया था। अतः शंकरदेव ने हर प्रकार से समाज को उचित मार्ग दिखाया था।

कीर्तन घोषा शंकरदेव की अमर कृति है। कीर्तन घोषा न केवल असमिया साहित्य जगत की एक अमूल्य निधि है, बल्कि सर्वभारतीय भक्ति आंदोलन के धार्मिक ग्रंथों में से एक है। महापुरुष शंकरदेव ने मूलत भागवत-पुराण की कहानियों, प्रसंगों के आधार पर कीर्तन की रचना की है। इसके अलावा पद्म पुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण, ब्रह्मांडपुराण आदि से भी उन्होंने कथा वस्तु ली है।समग्र कीर्तन में श्रवण-कीर्तन पर ही सर्वाधिक जोर दिया है------

''कृष्ण किंकर शंकरे भणे।
करियो कीर्तन समस्त जने।।''[6]
''कृष्ण कथा श्रवणत शुद्ध मन।
सर्वदाये करिवेक कृष्ण कीर्तन।।''[7]

कृष्ण सर्वोपरि हैं उनकी लीला अपार हैं।कृष्ण किंकर शंकर के अनुसार कृष्ण नाम स्मरण से सकल प्रकार के पापों का नाश होता हैं।

''शुन सर्वजन एरि आन काम
स्थिर करि एक मति।
कृष्ण नाम बिना इटो कलि युगे
नाहि नाहि आन गति।।
जानिया कृष्ण चरणे शरण
पशियों सुदृढ़ मति।
बोला राम राम छाड़ि आन काम
लभिबा परम गति।।''[8]

हरि, ब्रह्म, रुद्र, ईश्वर, सब एक ही है----

''शुनि हरि बुलिला वचन।
नोहे ब्रह्म रुद्र आन जन।।
मत्रि हरि जगत ईश्वर।
मोते आछे यत चराचर।।''[9]

नव वैष्णव आंदोलन का एक उल्लेखनीय दिशा है नामघर प्रतिष्ठा। असम के सामाजिक, अर्थनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, क्षेत्र में सत्र और नामघर का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। सत्र एक विशाल संस्था है। नामघर सत्र के अंतर्गत है। श्रीमंत शंकरदेव सृष्ट नामघर मानवधर्म, मानवकर्म, नीतिशिक्षा का तीर्थ क्षेत्र भी कहा जाता है, क्योंकि यहाँ कोई जात-पात, ऊँच-नीच भेदभाव नही हैं।

''विचित्र चन्द्रातप आछे टानि।
आरिला मूरारि मुकुता मणि।।
हेन मंदिरे रत्न सिंहासने्।
आछंत वसि प्रभू नारायणे।।''[10]

नामघर में बैठकर जो भजन कीर्तन किया जाता है इसकी शैली सर्वथा भिन्न है। उस कीर्तन को गाने के लिए एक गायक होता है जो गाता भी है और काँसे के बड़े बड़े तालों को बजा-बजाकर घोषा दोहराता जाता है और भक्तगण उनके स्वर में स्वर मिलाकर हाथ से ताली बजाते जाते हैं। अनेक शोषित-पीड़ित प्रजा शंकरदेव की शरण में आयी थी। सत्र-नामघरों में बैठकर इन्होंने भगवान के नाम पर समर्पित नैवेददा के कच्चा मूंग,जिसमें अदरक नारियल और नमक मिश्रित था, ग्रहण की। भगवान को कच्चा मूग का नैवद्य चढ़ाने की प्रथा असम को छोड़कर देश भर में अन्यत्र कहीं नही है। शंकरदेव ने इसके द्वारा लोगों के मन को स्वस्थ करने के साथ-साथ शरीर को भी स्वस्थ बनाया था।

श्रीमंत शंकरदेव की नाट्य यात्रा प्रारंभ होती है पहली बार तीर्थ यात्रा से लौटने के पश्चात। तीर्थ से लौटने के बाद अपने लोगों ने उनसे भागवत भक्ति का महत्व सुना तो उनके प्रति आग्रह को देखते हुए उन्होंने चिह्न यात्रा नामक नाटक को अभिनीत करने का तय किया ,जिसे उन्होंने चिह्न के यानी पर्दो के जरिए सात दिन सात रात तक दिखाया। कहा जाता है कि इन दिनों लोग अपनी सुध-बुध खोकर इसे देख रहे थे। भागवत के दशम स्कंध के आधार पर इसे पर्दो पर दिखाया जा रहा था। लेकिन, इसके मंचन के संबंध में चरितकारों से स्पष्ट जाना नही जाता कि वास्तव में शंकरदेव ने इसे किस प्रकार दिखाया था। चिह्न यात्रा नामक कोई लिखित नाटक था या भागवत के आधार पर चित्रों के माध्यम से इसे दिखाया गया था। गुरु चरितों से इसका भी पता नहीं चलता कि अभिनय और चित्रों के अतिरिक्त उसमें संलाप भी था।

श्रीमंत शंकरदेव ने एक विशेष प्रकार की नाट्यकला का सृजन किया था जो अंकिया नाट नाम से विश्वप्रसिद्ध है। एक अंक का नाटक रचने का अन्यतम तथा मुख्य

कारण यही था कि शंकरदेव ने नाटक की रचना मंचन हेतु की थी और उसके द्वारा विष्णु भक्ति का प्रचार किया था। इसी कारण से अंकिया नाटकों में सूत्रधार नाटक के प्रारंभ से अंत तक मंच पर रहते और दर्शक मंडली तथा नाटक की कथा का मध्यस्थ व्यक्ति होते हैं।

''हरि भकतिक महिमा कि कहव।
आहे लोकाइ, पेखु पेखु, हरिगुण नाम श्रवण कीर्तन बिने कलित गति नाहि नाहि।
जानि निंरतरे हरिवोल हरिवोल।।''[11]

उन्होंने कुल छः नाटकों की रचना की जो इस प्रकार है--पत्नीप्रसाद, कालीय दमन, केलीगोपाल, रुक्मिणीहरण, पारिजात हरण, राम विजय।

इस प्रकार श्रीमंत शंकरदेव ने अपने काव्यों तथा नाटकों द्वारा इस भू-भाग में परिव्याप्त भ्रष्टाचार तथा व्यभिचार को समाज से दूर कर एक स्वस्थ सुंदर समाज का निर्माण किया था।

अतः श्रीमंत शंकरदेव एक महान साहित्यिक, गीतिकार, नाटककार और संत ही नही थे, अपितु एक समाज संगठक तथा सुधारक भी थे। इन्होंने जीवन भर समाज के बारे में ही सोचा। श्रीमंत शंकरदेव ने भारत की असम धरा पर जिस शाश्वत भारतीय साहित्य की रचना सदियों पूर्व की, वह न केवल धार्मिक अपितु साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से भी अन्यतम उपलब्धि है।

सन्दर्भः-

1. Srimanta Sankardev Bharata Barise, Bharatiya Itihas Sankalan Samiti , Assam, P. 159

2. राय चौधरी, डॉ.भूपेन्द्र–'शंकरदेव और तुलसीदास की वैचारिक भावभूमि', 1997, निवेदन से उद्धृत।

3. बरुवा, हरिनारायण दत्त (संपा)–'भागवत एकादश स्कन्ध, निमि-नव-सिद्ध संवाद', पृ. 348

4.Srimanta Sankardev Bharat Barise, Bharatiya Itihas Sankalan Samiti, Assam, P. 87

5. महंत, नीलनणि (संपा)–'बरगीत आरु निर्वाचित नाटर गीत', समलय बुक स्टॉल, 2004, पृ. 24

6.गोस्वामी, दामोदर देव (संपा)-'कीर्तन घोषा, दैवकी पुत्र आनयन, 34', पृ. 314

7. गोस्वामी, दामोदर देव (संपा)-'कीर्तन घोषा, प्रह्लाद चरित्र, 161', पृ. 91

8. गोस्वामी, दामोदर देव (संपा)-'कीर्तन घोषा, दैवकी पुत्र आनयन, 23', पृ. 391

9. गोस्वामी, दामोदर देव (संपा)-'कीर्तन घोषा, उरेषा वर्णन,141', पृ. 307

10. श्रीश्री शंकरदेव, श्रीश्री माधवदेव–'कीर्तनधोषा आरु नामधोषा, ध्यान वर्णन, 6', बरुवा एजेन्सि, 1995, पृ. 37

11. गोस्वामी, डॉ.केशवानन्द (संपा)-'अंकमाला', प्रकाशक बनलता, तीसरा संस्करण, 1999, पृ. 97

ई. मेल -purabikalitapurabi@gmail.com

❖❖❖

श्रीमंत शंकरदेव की नाट्य - कला

मणि कुमार

भक्ति आंदोलन के पूर्व पूर्वोत्तर में नाटक लिखे जाने का कुछ भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। ''शंकरदेव के समय से ही नाटकों का प्रचार और अभिनय प्रारंभ हुआ तथा असम में नाटक के प्रति जनसामान्य में अभिरुचि जगी।'' [1] इसलिए पंडित हेमचन्द्र गोस्वामी ने इन्हें ''असमी नाटक साहित्य का जनक स्वीकार किया।''[2] श्रीमंत शंकरदेव तीर्थाटन से विभिन्न नाट्य रूपों से प्रभावित होकर लौटे और भक्ति आंदोलन का प्रचार-प्रसार आरंभ किया। पूर्वोत्तर में भक्ति आंदोलन के प्रचार-प्रसार में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका श्रीमंत शंकरदेव द्वारा लिखित नाटकों की रही है।

शंकरदेव कालीन साहित्य के अध्ययन के पश्चात यह देखने को मिलता है कि साहित्य दो खाकों में बंटा हुआ था। प्रथम, भक्ति आंदोलन से नितांत अछूता था, वह इसके प्रभाव से दूर रह कर शुद्ध लौकिक वृत्तांतो पर रचनाएँ लिख रहा था। इस दल ने नाटकों की रचना की, इसकी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। प्रमुख रचनाकारों में दुर्गावर और पीतांबर का नाम उल्लेखनीय है। "Durgavara and Pitambara are contemporaries of Shankardeo. They are in a way free from the reching influence of Neo-Vashnavisma that had spread in Asam from the latter part of fifteenth century and their poetry is more secular than religious in tone."[3] दूसरी तरफ शंकरदेव थे, जिन्होंने भक्ति आंदोलन से प्रभावित होकर भक्ति के सिद्धांत को लोकप्रिय बनाने के लिए नाट्य रूपों का सहारा लिया। अपने उद्देश्य की प्राप्ति और उसके प्रचार-प्रसार के लिए इन्होंने छह नाटकों (उपलब्ध) की रचना की, जिनके नाम रचना कालक्रमानुसार इस प्रकार हैं - 'कालियादमन', 'पत्नी प्रसाद', 'केलि गोपाल', 'रुकिमणी हरण', 'पारिजात हरण' और 'राम विजय'। इसके विपरीत प्रो. बरुआ ने शंकरदेव के नाटकों को इस क्रम में रखा है - ''कालियादमन', 'रासक्रीड़ा' या 'केलि गोपाल'', 'पत्नी प्रसाद', 'पारिजात हरण' और 'राम विजय', 'रुक्मिणी हरण''।[4]

असम के नाटकों के संबंध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि शंकरदेव और उनके परवर्ती वैष्णव नाट्यकार मूलतः एक उपदेशक और प्रचारक हैं, इसके पश्चात ही वे एक नाटककार या कलाकार के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हो पाते हैं। यही कारण है कि एक निर्धारित सीमा और रूपरेखा के अंतर्गत ही इन नाटकों की कथावस्तु, शैली और चरित्रगत विशेषताओं का निदर्शन किया गया है। शंकरदेव के नाटकों के अध्ययन से यह स्पष्टतः लक्षित होता है कि इनका कथानक प्रायः पूर्व निश्चित और नियोजन योजना के आधार पर ही अग्रसर होता है, जिसके कारण इन नाटकों में कलात्मकता के साथ-साथ प्रचारात्मक तत्त्व भी उपलब्ध हैं। एक तथ्य और भी उल्लेखनीय है कि शंकरदेव के नाटकों में विभिन्न नाट्य शैलियों का सम्मिश्रण है। यही कारण है कि इनके नाटकों की नाट्य शास्त्रीय अथवा किसी विशेष लोकनाट्य शैली के आधार पर ही समीक्षा प्रस्तुत नहीं की जा सकती।

श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों की संख्या सामान्यतः छह बताई जाती है, किंतु कुछ गुरुचरित एवं कुछेक स्थानों पर उनके द्वारा रचित आठ नाटकों का पता चलता है। उनमें से छह ही प्रकाश में आ सके हैं, शेष दो अप्राप्य हैं। अप्राप्य नाटकों के नाम इस प्रकार हैं - 'चिह्न यात्रा', 'जन्म यात्रा' अथवा कंस वध। मागध जी शंकरदेव के अप्राप्य नाटकों के विषय में लिखते हैं कि, ''दूसरा सूच्य नाटक है - 'कंस वध'। रामचरण ठाकुर ने इसका उल्लेख जन्म यात्रा के नाम से किया है। इस नाटक के लेखन की पुष्टि श्री पूर्णानन्द भी करते हैं।''[5] श्रीमंत शंकरदेव केवल एक नाटक 'राम-विजय' में उसके रचना काल का उल्लेख करते हैं। शेष नाटकों में रचना-काल का निर्धारण बाह्य साक्ष्यों के द्वारा करना पड़ता है।

15वीं -16वीं शताब्दी में श्रीमंत शंकरदेव के माध्यम से पूर्वोत्तर भारत में वैष्णव धर्म का एक नया अध्याय प्रारंभ हो जाता है। ''15वीं शताब्दी तक वैष्णव भक्ति अथवा भागवत धर्म शक्तिशाली देशव्यापी धार्मिक, सांस्कृतिक आंदोलन का रूप ले चुका था। अपने व्यापक रूप में सभी कलाओं एवं सामुदायिक जीवन के हर पक्ष को समृद्ध बना चुका था। महान उपदेशक एवं संत कवियों ने विष्णु के अवतारों - विशेषकर कृष्ण और राम के विषय में भावमय गीतों की रचना की। वैष्णव भक्ति आंदोलन द्वारा प्रवर्तित भक्ति एवं पूजा की संकल्पना ही मध्यकालीन नाट्य परंपरा की भावभूमि बनी।''[6]

श्रीमंत शंकरदेव ने अपने विवेकशील पांडित्य के आधार पर समयानुकूल परिष्करण के साथ तत्कालीन समाज में वामाचारियों एवं कर्मकांडियों के फैले हुए प्रभाव को लक्ष्य कर, उससे मुक्ति पाने के लिए भक्ति के सिद्धांत को सरलता और सुगमता का रूप दिया। फिर भी जब इन्हें अनुभव हुआ कि जन हृदय में पूर्व संस्कार ज्यों के त्यों बने हुए हैं तो इन्होंने कीर्तन, पद, पुराणों के लेखन एवं अनुवाद आदि रचनात्मक कार्यों के साथ एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग भी प्रारंभ किया। जिस प्रयोग का नाम था 'अंकिया नाटक'। ''शंकरदेव असमिया नाट्य-साहित्य के जनक हैं। उनके पूर्व असम में नाटक - साहित्य की कोई परंपरा नहीं मिलती है। असम में प्रचलित 'ओजापालि', 'ढुलिया', 'पुतुली' नृत्य इत्यादि की कुछ लोक-नाट्य परंपरा रही है अवश्य, पर पूर्ण रूपेण नाटक की परंपरा शंकरदेव के कारण ही संभव हो सकी। उन्होंने श्रीकृष्ण की लीला-माला को श्रव्य-दृश्य रूप में प्रस्तुत कर जन मानस को आह्लादित करने के लिए नाट्य-विधा को अपनाया। इनके नाटकों में एक अंक होने के कारण 'अंकिया नाट' या नाटक कहा जाता है। असम में अंकिया का पर्याय है 'भाओना'। महापुरुष शंकरदेव ने इन्हें 'नाटक' की संज्ञा दी है।''[7]

दृश्य काव्य में प्रत्यक्षानुभूति के साथ ही श्रव्यता का गुण भी विद्यमान रहता है। शंकरदेव इस तथ्य से अपरिचित नहीं थे कि चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा हृदय-पटल पर अंकित चित्र का प्रभाव जितना स्थायी होता है, उस अनुपात में उपदेश

और अध्ययन का प्रभाव अत्यंत क्षीण सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष - दर्शन से मानस पटल पर उसका रूप अंकित हो जाता है और जिसका पुनर्स्मरण भी शीघ्र ही किया जा सकता है। यही कारण था कि श्रीमंत शंकरदेव ने अपने सिद्धांत के प्रचार के लिए नाट्य-रूपों को अपनाया। ''मनोरंजन के साथ-साथ वैष्णव नाटक का उद्देश्य था धार्मिक और नैतिक प्रकार की शिक्षा देना। इस उद्देश्य के लिए दृश्य-काव्य से अधिक उत्तम साधन और क्या हो सकता है, विशेषतः उन अपढ़ लोगों की शिक्षा के हेतु जिनके लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' है।''[8] ईश्वर के गुण कर्मों को कृत्रिम प्रसाधनों के उपयोग एवं अभिनय कला के माध्यम से जन समूहों में प्रदर्शित करने से भक्ति के प्रचार के साथ ही कुप्रभावों को विनाश करने का लक्ष्य भी अनायास ही सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि शंकरदेव ने नाट्य-रूपों को अपनाकर एक नवीन साहित्यिक परंपरा का सूत्रपात किया। नेमिचन्द्र जैन ने श्रीमंत शंकरदेव द्वारा रचित ''अंकियानाट जैसे धार्मिक नाट्यरूप को मध्यकालीन भारत में हिंदू जाति की 'आत्मप्रतिष्ठा' के उस अभियान के रूप में देखा है जिसका मुकाबला मुसलमान शासकों से था।''[9]

शंकरदेव को अपने क्षेत्र में वैष्णव-भक्ति का प्रचार-प्रसार करना था, अतः यह नितांत आवश्यक था कि वे उस स्थल के जन-नाट्य-रूपों को भी अपनाते। अतएव ओजापालि का, विभिन्न उत्सवों में पड़ने वाले प्रभाव का परिष्कृत रूप भी श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों में दृष्टिगत होता है। साथ-ही-साथ मध्यकालीन मैथिली नाटक, भारत के विभिन्न लोकनाट्य की परंपरा के साथ संगीतक और संस्कृत नाट्य परंपरा भी शंकरदेव के नाटकों की रचना के प्रेरणास्रोत सिद्ध हुए। शंकरदेव संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे, अतः वे अपने नाटकों में उस परंपरा के मोह का त्याग नहीं कर सके। इतना अवश्य है कि समयानुकूल परिष्करण के साथ ही शंकरदेव ने अपने नाटकों में उसे उपस्थित किया है। ''शंकरदेव के नाटकों की मूल प्रेरणा 'संगीतक' में ही खोजी जा सकती है। उमापति, विद्यापति और शंकरदेव में संगीतक ने अपना स्वतंत्र और स्थान-कालानुरूप विकास किया है। शंकरदेव के नाटक उमापति अथवा विद्यापति से अप्रभावित हैं। संस्कृत के ह्रासोन्मुखी नाटकों का प्रभाव भी उन पर लक्षित होता है। मध्यकालीन विभिन्न लोकधर्म नाट्य-योजनाओं और ओजापालि जैसे स्थानीय नृत्यों ने अंकिया नाटकों को मांसल बनाने में पूर्ण योगदान किया है। ''[10]

शंकरदेव ने नाटकों की कथावस्तु के लिए श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध को आधार बनाया। दसवें स्कंध के अंतर्गत वासुदेव और देवकी पुत्र कृष्ण का जन्म, गोकुल में उनका जन्मोत्सव, पूतना, शकट भंजन और वृणावर्त का उद्धार, विविध प्रकार की बाल-लीलाएं तथा वत्सासुर, बकासुर और अघासुर का उद्धार, कालिया नाग का उद्धार, गोपियों की रक्षा करना, श्रीकृष्ण का अभिषेक, सुदर्शन और शंखचूड का उद्धार, श्रीकृष्ण और बलराम का मथुरागमन, कुब्जा का उद्धार, कंस का वध, उद्धव और गोपियों की बातचीत, अक्रूर जी का हस्तिनापुर गमन। इसके अतिरिक्त दशम स्कंध के उत्तरार्ध में जरासन्ध का युद्ध, द्वारका पुरी का निर्माण, रुक्मिणी हरण, कृष्ण-रुक्मिणी विवाह, भौमासुर का उद्धार, भगवान की संतति का वर्णन, रुक्मी का वध, उषा-अनुरुद्ध मिलन आदि कथाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। शंकरदेव इन कथाओं में से कुछ कथाओं को अपने नाटकों के लिए चुनते हैं। इन कथाओं का मौलिक रूप में प्रस्तुतिकरण श्रीमंत अपने नाटकों के माध्यम से करते हैं, जो उनकी रचनात्मक शक्ति का प्रमाण है। डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध' श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों के वस्तु - संगठन और रचना - कौशल के बारे में लिखते हैं कि, ''शंकरदेव के नाटक कथानक की दृष्टि से पौराणिक, प्रतिपाद्य की दृष्टि से धार्मिक और शैलीगत वैशिष्ट्य की दृष्टि से संगीतक हैं। राम-विजय के अतिरिक्त सभी नाटक कृष्ण से संबंधित हैं। शंकरदेव ने अपने नाटकों के कथानक का रूप स्थिर करने और उसकी कथावस्तु के रूप में गढ़ने के पूर्व श्रीमद्भागवत के इतिवृत्तों का भली-भांति अध्ययन किया होगा। यदि हम यह कहें कि इसके लिए उन्होंने अपने ढंग पर अनुसंधान कर प्रसंग-परिकलन-बुद्धि से उसकी संगत एकात्मकता स्थापित की होगी, तो अनुचित न होगा।''[11]

शंकरदेव की नाट्य - कला की बात करें तो नृत्य और संगीत उनकी नाट्य संरचना के भीतरी तत्त्व हैं। गायन-बायन मंडली के गीत-संगीत और अभिनेताओं के नृत्य मूलकथा के विकास से ही नहीं अपितु चरित्रों की अभिव्यक्ति से अंतर्सबंधित होते हैं। 'अंकिया' समेत प्रायः सभी लोकनाट्य रूपों की रंग संभावनाएं नृत्य संगीत के इसी सर्जनात्मक प्रयोग के कारण ही होती हैं। श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों का रंगमंच भी मूलतः नृत्याभिनय का रंगमंच है। श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों केअंतर्गत नाट्यशास्त्र में निर्देशिक पूर्वरंग का भी थोड़े से अंतर के साथ अनुकरण दिखायी देता है। नाटकों का पूर्वरंग बहुत स्पष्ट और अनुशासित है। पूर्वरंग की इस क्रिया का आरंभ 'श्रीमद्भागवत ग्रंथ' की स्तुति से होता है। सूत्रधार की वेशभूषा अपनी रंग रचना में विशिष्ट होती है। सूत्रधार नृत्य करते हुए रंगस्थल पर प्रवेश करता है। 'रंगस्थली' पर आकर वह गायन-बायन दल द्वारा किए जाते हुए नांदीपाठ और 'भटिमाओं' को अपने हस्ताभिनय द्वारा अर्थ देता है। प्रेक्षकों को श्रीकृष्ण के आगमन की सूचना देता है और श्रीकृष्ण का गोपीजन के साथ प्रवेश होता है। इस प्रकार नाट्य वस्तु, अभिनेता और

प्रकाश आदि के विलक्षण सर्जनात्मक तालमेल के कारण तथा परंपरा से प्राप्त रंग रूढ़ियों के प्रति गहरी एकनिष्ठता के कारण शंकरदेव की रंग शैली बहुत संगठित और सर्जनात्मक है। शंकरदेव की नाट्य शैली में भारतवर्ष की रीति-नीति, गीत, नृत्य, प्रदर्शन, अभिनय आदि को देखा समझा जा सकता है।

डॉ. दशरथ ओझा अपनी पुस्तक 'नाट्य-समीक्षा' में शंकरदेव के नाटकों की विशेषताएं बताते हुए लिखते हैं कि, शंकरदेव के नाटकों की अपनी एक स्वतंत्र सत्ता है, वे संस्कृत, प्राकृत या अन्य किसी नाट्य - परंपरा का अनुसरण नहीं करते। उनमें अंक या दृश्य - विभाजन का नितांत अभाव है। अधिकतर पात्र नाटक के उपोद्घात से लेकर परिसमाप्ति तक निरंतर कार्य-व्यापार में रत परिलक्षित होते हैं। यहाँ, पृष्ठभूमि के रूप में किसी प्रकार की साज-सज्जा विद्यमान नहीं होती, समय और दूरी की सूचना गान एवं नृत्य के माध्यम से दे दी जाती है। प्रारंभिक गान के अनन्तर शीघ्र ही रंगमंच पर सूत्रधार का प्रवेश होता है, वह नाटक की घोषणा करता है और आद्योपांत समस्त प्रदर्शन का संचालन नृत्य, गीत और व्याख्यात्मक समीक्षा द्वारा करता है। नाटक जन बोली में रचे गए हैं, इस जन बोली में ब्रज से आसाम तक की प्रचलित जनभाषा का समावेश पाया जाता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें लचीलापन, ध्वन्यात्मक माधुर्य, अपभ्रंश की ओजस्विता आदि गुण स्वाभाविक रीति से पाए जाते हैं और इन सबके सामूहिक परिणामस्वरूप प्रगीत और पद्यात्मक नाटक का आभास होता है। नाटक में गद्यात्मक संवाद भी मुहावरों में होता है, सूत्रधार का विवरण इसी प्रकार की भाषा में मिलता है, कभी-कभी गीत की भाषा का भी प्रयोग गद्य में होता है। बीच-बीच में संस्कृत श्लोकों का समावेश रहता है। यदा-कदा करुणोत्पादक कथानक के साथ असमिया छंद 'पयारस' का भी योग मिलता है। नाटकों में हमें जन भाषा का आदि रूप प्राप्त होता है, किंतु न तो यह पद्यात्मक माधुर्य समन्वित नितांत गद्य ही होता है और न ही यह परिमार्जित गद्य ही होता है। नाटक का प्रारंभ संस्कृत में नांदी से होता है तथा प्रारंभ में ही नाटक के पात्रों और विषय की सूचना दे दी जाती है। प्रारंभ में ही नाटक के नायक की स्तुति की जाती है। सूत्रधार और उसके संगी का वार्तालाप भी अत्यंत संक्षिप्त होता है। यह वार्तालाप संस्कृत के आमुख अथवा प्रस्तावना का अनुसरण करता है। प्रवेशगीत के साथ नायक का प्रवेश होता है। नायिका तथा अन्य पात्र भी समुचित नृत्य मुद्रा में प्रवेश करते हैं।''[12]

इस प्रकार संक्षिप्त रूप में कहें तो, ''शंकरदेव के नाटक उनकी बहुज्ञता, कलाप्रियता, भारतीय जीवन की समग्रता और एकात्मकता, समन्वयात्मक बुद्धि, लोकमंगलकारिणी दृष्टि इत्यादि के विचार से तदयुगीन अद्वितीय उपलब्धि हैं। वह उनकी युग-प्रवर्तक प्रतिभा का परिचायक है। शंकरदेव जैसा भावुक कवि जैसे नाटकों में जीवन को वास्तविक धरातल पर उतार लाने में सफल हो गया है। साथ ही उनके कवि नाटककार और संत का पार्थक्य यहाँ मिट गया है। नाट्य-कौशल का शंकरदेव के अतिरिक्त उस युग में कोई दूसरा प्रतिमान नहीं।''[13]

अतः यह कहना उचित होगा कि भारतीय नाट्यकला के इतिहास में श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों का महत्व अद्वितीय है। ''शंकरदेव की यह बड़ी विशेषता है कि उन्होंने संस्कृत के साथ जन-भाषा, संगीतमय पदों के साथ परिमार्जित गद्य, शास्त्रीय नाट्यविधान के साथ लोकनाट्य शैली, विद्वतमंडली के साथ अशिक्षित जन समुदाय का भी सदा ध्यान रखा। दोनों पद्धतियों के सामंजस्य से उन्होंने नाट्य साहित्य का एक नया रूप निर्मित किया।''[14] भारतीय नाट्यकला के इतिहास में श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों का महत्वपूर्ण स्थान है। मध्यकालीन विभिन्न लोकनाटकों एवं संस्कृत नाटकों को उपकरण के रूप में स्वीकार कर शंकरदेव ने नवीन नाट्य-विधा को विकसित-प्रचारित किया। शंकरदेव के नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय, सप्राण और सशक्त विधा है, यह ऐतिहासिक सत्य है। यह दुःख की बात है कि भारतीय रंगमंच इस सत्य से दूर है। शंकरदेव के नाटकों को भारतीय रंगमच के इतिहास में लोकनाट्य तथा अंकिया नाट्य के अंतर्गत बहुत ही संक्षिप्त रूप में स्थान प्राप्त हुआ है। शंकरदेव के सभी नाटक पौराणिक हैं। वे कथा प्रधान हैं। इनके नाटकों में सांस्कृतिक भारत चित्रित है। यहाँ व्यक्ति की अपेक्षा समाज और राष्ट्र को और उनसे भी अधिक मानवता को महत्व मिला है।

अतः शंकरदेव ने भारत की असम-धरा पर जिस शाश्वत भारतीय साहित्य (नाटक) की रचना शताब्दियों पूर्व की, वह न केवल धार्मिक बल्कि साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से भी अन्यतम उपलब्धि है। भारतीय राष्ट्र की एकात्मकता के विघटन और बिखराव को रोकने की दृष्टि से उनके नाटकों में राष्ट्रव्यापी परंपरा का जो सम्यक और देशकालानुरूप नियोजन हुआ है, उसका महत्व युगों तक बना रहेगा।

संदर्भ

1. महाकवि शंकरदेवः विचारक एवं समाज सुधारक - डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', पृ. 452
2. असमिया साहित्य - हेम बरुआ, पृ. 84
3. Aspects of Early Assamese-Literature - B. Kakoti (Ed.), page no. 200
4. असमिया साहित्य - हेम बरुआ, पृ. 82
5. महाकवि शंकरदेव : विचारक एवं समाज सुधारक - डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', पृ. 453
6. हे सामाजिक - सुरेश अवस्थी, पृ. 15
7. श्रीमंत शंकरदेवः व्यक्तित्व और कृतित्व - डॉ. भूपेंद्र राय चौधरी, पृ. 48-49
8. असमिया साहित्य - हेम बरुआ, पृ. 84
9. भारतीय लोकनाट्य - डॉ. विशिष्ट नारायण त्रिपाठी, पृ. 24
10. महाकवि शंकरदेव : विचारक एवं समाज सुधारक - डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', पृ. 469-470
11. महाकवि शंकरदेव : विचारक एवं समाज सुधारक - डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', पृ. 471
12. नाट्य - समीक्षा - डॉ. दशरथ ओझा, पृ. 62
13. महाकवि शंकरदेव : विचारक एवं समाज सुधारक - डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', पृ. 495
14. नाट्य - समीक्षा - डॉ. दशरथ ओझा, पृ. 63

ई. मेल -manni10590@gmail.com

❖❖❖

भारतीयता एवं सामाजिक समरसता के अग्रदूत : श्रीमंत शंकरदेव

डॉ. सुनील कुमार शॉ

भारत की पुण्य भूमि के लिए शंकरदेव नायक एवं युग पुरुष हैं। महापुरुष शंकरदेव ने तत्कालीन असम में घोर अंधकार को दूर करते हुए प्रत्येक असमिया व्यक्ति के हृदय में भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित की। इनकी रचनाओं ने कला, संस्कृति, साहित्य, समाज चेतना, धार्मिक आस्था आदि सभी क्षेत्रों में एक नयी दिशा एवं दृष्टि प्रदान की। उनकी रचनाएं केवल धर्म ग्रंथ ही नहीं हैं वे समाज, संस्कृति एवं साहित्य के सभी क्षेत्रों को स्पर्श करती हैं। जिस भारत राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की कल्पना आज हम करते हैं उसकी कल्पना कई सौ वर्ष पहले ही श्रीमंत शंकरदेव ने अपनी रचनाओं में कर दी थी। शंकरदेव स्वयं लिखते हैं।

''भारत वरिष मनुष्य शरीर कलीयुग हरिनाम।
चारीरो संयोग कत पुण्ये फाईल करा तरि बार काम॥

(अर्थातः भक्तों हरि नाम मनुष्य मात्र को इस जग से तार देता है। विशेष बात यह है कि हमें भारत वरिष (भारतवर्ष) में जन्म मिला और वह भी इस कलिकाल में)''[1]

मध्यकाल के वैष्णव भक्ति आंदोलन के संदर्भ में मानवता के समर्थक के रूप में महापुरुष शंकरदेव का एक विशेष स्थान है। इस सुंदर धरा के अपार सौंदर्य को मानवता एवं राष्ट्रीयता के अग्रदूत के रूप में उन्होंने अथक परिश्रम किया। तुच्छ मानसिकता की परिधि से लोगों को बाहर निकालकर उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया। मानव जगत के कल्याण के लिए उन्होंने अनेक यत्न किए हैं। मनुष्य के हृदय में निम्न कोटि के सपनों को संस्कारित कर आध्यात्मिक शक्ति से उसमें भक्ति भाव जगाने के लिए उन्होंने कई महत्वपूर्ण कार्य किये जो आज भी हमारे समाज में मौजूद हैं। नाम की महिमा को उनके साहित्य एवं भक्ति मार्ग में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हरि नाम की डोर से समाज को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है, हरि नाम की अमृत धारा से इस जीवन में पारमार्थिक सुख की उपलब्धि की जा सकती है, इसी शाश्वत सत्य के आधार पर उन्होंने मनुष्य के लिए, समाज के लिए बहुत सारी कल्याणकारी रचनाओं की सृष्टि की। सांवरमल जी नामघर के सन्दर्भ में लिखते हैं- ''नामघर असम के गाँव- गाँव में हैं। ये नामघर या कीर्तनघर ही नहीं, ये तब से आज तक असमिया समाज-व्यवस्था के विशिष्ट उपादान बने हुए हैं। प्रजातन्त्र के सम्यक् विकास के लिए जिस ग्राम पंचायत की परिकल्पना हमरे संविधान में है, उसे आज से पाँच सौ वर्ष पहले ही श्रीमंत शंकरदेव ने नामघर के रूप में स्थापित कर दिया था। इन नामघरों में अविराम रूप से धर्म-प्रचार के साथ-साथ गाँव की नाना समस्याएँ वाद-विवाद सुलझाए जाते हैं, नीति-नियम का निर्धारण होता है। सामाजिक न्याय, कला एवं संस्कृति को साकार करने में नामघरों का द्वितीय स्थान है।''[2]

श्रीमंत शंकरदेव का जन्म असम के नौगाँव जिले की बरदोवा के समीप अलपुखुरी में हुआ। इनकी जन्मतिथि अब भी विवादास्पद है, यद्यपि प्रायः यह 1371 शक मानी जाती है। जन्म के कुछ दिन पश्चात् इनकी माता सत्यसंध्या का निधन हो गया। 21 वर्ष की उम्र में सूर्यवती के साथ इनका विवाह हुआ। मनु कन्या के जन्म के पश्चात् सूर्यवती परलोकगामिनी हुई। शंकरदेव ने 32 वर्ष की उम्र में विरक्त होकर प्रथम तीर्थयात्रा आरम्भ की और उत्तर भारत के समस्त तीर्थों का दर्शन किया। रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी से भी शंकर का साक्षात्कार हुआ था। तीर्थयात्रा से लौटने के पश्चात् शंकरदेव ने 54 वर्ष की उम्र में कालिंदी से विवाह किया। तिरहुतिया ब्राह्मण जगदीश मिश्र ने बरदोवा जाकर शंकरदेव को भागवत सुनाई तथा यह ग्रंथ उन्हें भेंट किया। शंकरदेव ने जगदीश मिश्र के स्वागतार्थ 'महानाट' के अभिनय का आयोजन किया। इसके पूर्व 'चिह्नयात्रा' की प्रशंसा हो चुकी थी। शंकरदेव ने 1438 शक में भुइयाँ राज्य का त्याग कर अहोम राज्य में प्रवेश किया। कर्मकांडी विप्रों ने शंकरदेव के भक्ति प्रचार का घोर विरोध किया। दिहिंगिया राजा से ब्राह्मणों ने प्रार्थना की कि शंकर वेद-विरुद्ध मत का प्रचार कर रहा है। कतिपय प्रश्नोत्तर के पश्चात् राजा ने इन्हें निर्दोष घोषित किया। हाथीधरा कांड के पश्चात् शंकरदेव ने अहोम राज्य को भी छोड़ दिया। पाटबांउसी में 18 वर्ष निवास करके इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। 67 वर्ष की अवस्था में इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। 97 वर्ष की अवस्था में इन्होंने दूसरी बार तीर्थयात्रा आरम्भ की। उन्होंने कबीर के मठ का दर्शन किया तथा अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इस यात्रा के पश्चात् वे बरपेटा वापस चले आए। कोच राजा नर नारायण ने शंकरदेव को आमंत्रित किया। कूचबिहार में 1490 शक में वे वैकुंठगामी हुए। अंधकारमय असम में ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल करने के लिए महापुरुष शंकरदेव का जन्म हुआ था। असम में श्रीमंत शंकरदेव का जन्म ऐसे समय में हुआ जब असम का धार्मिक सामाजिक, तथा सांस्कृतिक जीवन दयनीय स्थिति में था। पंद्रहवीं शताब्दी के समय में जब जाति भेद प्रथा अपनी चरम पर थी, ऐसे कठिन समय में महापुरुष शंकरदेव ने इन सभी कुरीतियों से मुक्ति दिला कर समाज के सभी वर्गों को एक ही धारा में समेटने के लिए एक ऐसे धर्म मार्ग को चुना जहाँ सभी वर्ग समुदाय के लोग एक साथ रह एवं प्रभु का नाम ले सकें। इस तरह का प्रयास करना किसी भी साधारण मनुष्य की बात नहीं थी। जिसके अंदर सच्ची एवं कठोर दृढ़ इच्छा शक्ति हो वही ऐसा प्रयास कर सकता है। आज हमारे सामने महापुरुष शंकरदेव के द्वारा किये गए सुधार जीवंत रूप में प्रस्तुत हैं।

समाज में फैली विद्रूपताओं को दूर कर नाम घर की स्थापना का बीड़ा श्रीमंत ने उठाया। तत्कालीन समय में विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा अर्चना, यज्ञ आदि के

लिए जीव बलि दी जाती थी, इसका प्रचालन काफी जोरों पर था। श्रीमंत शंकरदेव ने इन आडंबरों का कठोर विरोध किया और इस परंपरा को रोकने का भरपूर प्रयास किया। इस समय शंकरदेव ने इन सब आडंबरों का विरोध करते हुए एकेश्वर की बात कही। यही मानव प्रेम का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण था। 'एक देव, एक सेव, एक बीने नाइ केव'। इसी प्रसंग को श्रीमंत शंकरदेव के शब्दों में स्पष्ट करते हुए सांवरमल सांगानेरिया श्रीमंत शंकरदेव की जीवनी में आगे लिखते हैं-''नामघर को हम प्राचीन ऋषि-मुनियों के आश्रमों जैसा रूप देंगे। ये हमारी समाज-व्यवस्था को सुधारने का काम भी करेंगे। यहाँ ऊंच-नीच या स्पृश्य-अस्पृश्य किसी प्रकार का जातिभेद नहीं रखा जाएगा। यहाँ हमारे भक्त गाँव के बच्चों को शिक्षा देंगे, समय पर अपने उपलब्ध साधनों से उनकी चिकित्सा भी करेंगे। भक्तों को नामघर का प्रचार करने के लिए शिक्षित किया जाएगा। यदि हमारा कोई आपसी विवाद होगा तो उसे भी यही बैठकर सुलझाएंगे। यहाँ एक बड़ा कक्ष केवल पुस्तकों के लिए होगा। यहाँ बैठकर नयी रचनाओं को सांचीपात पर लिपिबद्ध करने के साथ कथा-प्रसंग के अनुसार ग्रंथियों पर चित्रकारी भी की जाएगी। पुराने प्राप्य ग्रंथों की सुंदर प्रतिलिपियाँ बनाई जाएँगी। कोई जिज्ञासु चाहे तो वहाँ बैठकर ग्रंथों का वाचन भी कर सकता है।''[3] इस आदर्श के साथ उन्होंने एक ईश्वर की बात कही और सरस भक्ति के माध्यम से मानव मुक्ति का द्वार दिखाया। उन्होंने यह भी कहा था कि भक्ति से ही ज्ञान की सृष्टि होती है। ज्ञान ही परमार्थ या ब्रह्मज्ञान है। भक्ति मार्ग को सभी के लिए सुलभ बताया है महापुरुष ने। उन्होंने यह भी कहा कि सबसे सरल मार्ग है, भक्ति का मार्ग। महापुरुष शंकरदेव ने बताया कि समर्पण का भाव ही भक्ति मार्ग का मूल है। भजन- कीर्तन, समर्पण आदि भक्ति के विभिन्न उपायों से भगवान के समक्ष अगर हम अपने लोभ, क्रोध मोह आदि का आत्मसमर्पण कर सकें तो वहीं से हमे स्वर्ग एवं ईश्वर की अनुभूति होगी। इस मिथ्या जगत में सब कुछ नश्वर है। साथ कुछ नहीं जाता है, साथ कुछ अगर जाता है तो वह है प्रभु भक्ति। इस संसार में भक्ति के अलावा कोई धर्म नहीं है।

भकतित परे धर्म नाहि संसारत
चारिओ वेदर जाना एही सार तत्व।
कलित कीर्तने हौवे भकत
आत परे लाभ नाहि लोकत
नामेसे करिब परम सिद्धि
हरिर नाम जगतरे निधि। (कीर्तन)

श्रीमंत शंकरदेव ने केवल भक्ति का मार्ग चुनकर लोगों को जागरूक ही नहीं किया बल्कि उन्होंने समाज में समरसता लाने का प्रयास किया। उनका यह ध्येय था कि एक ऐसे समाज का निर्माण किया जाय जहाँ सभी वर्गों के लोग एक साथ मिलकर रहें एवं प्रभु के नाम की महिमा को जपें। श्रीमंत के धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रचार के संबंध में लिखा गया है। शंकरदेव केवल आध्यात्मिक और धार्मिक प्रचार में ही व्यस्त नहीं थे, अपितु उन्होंने भेदभावहीन समाज का पुनर्गठन कर सभी स्तर के लोगों को एक सूत्र में पिरोकर वृहद समाज की स्थापना की। यह उनके चिंतन और कार्यान्वयन का ही प्रभाव है कि आज असमिया समाज में कोई छुआछूत या जातिभेद देखने को नहीं मिलता। तभी तो अपने असम प्रवास के समय यह बात जानकार गांधीजी ने अचंभित होते हुए कहा था कि ''अस्पृश्यता के जिस कोढ़ को समाज से मिटाने के लिए मैं प्रयासरत हूँ वह पहले से ही श्रीमंत शंकरदेव ने असमिया समाज से मिटा दिया।''[4] समतामूलक समाज की स्थापना का उत्तर ही था जगत की सभ्यता और प्रगति।

श्रीमंत शंकरदेव ने अनेक ईश्वरों की जगह एक ईश्वर की कल्पना का तर्क दिया भक्ति एवं नाम महिमा के माध्यम से सत्य की अनुभूति का पथ उन्होंने प्रशस्त किया। ईश्वर प्राप्ति के लिए उन्होंने बताया कि इसके लिए जरूरी है केवल एक पवित्र मन। सद्भाव और सुविचार इसकी फसल हैं। यहाँ धनी और निर्धन के बीच कोई भेद नहीं है। न कोई बाहरी दिखावा है और न ही आडंबर। केवल आवश्यकता है एक ईश्वर के प्रति और अकृत्रिम निस्वार्थ भक्ति। यहाँ सामाजिक श्रेणी विभाजन का कोई स्थान नहीं है। निस्वार्थ भक्ति से अपनी राह बना सकता है, वही यहाँ विजेता है और उसी को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

महापुरुष शंकरदेव प्रगतिशील सोच रखने वाले दूरदर्शी व्यक्तित्व थे उन्होंने अपने प्रभाव से कई क्षेत्रों के सांगनेरियां आदि को अपने विचार से प्रभावित किया एवं एक ईश्वर धर्म के द्वारा भक्ति आंदोलन के माध्यम से समाज में भ्रातृत्वबोध और अपनत्व की भावना जगाई। समाज में व्याप्त ऊंच-नीच की भावना को दूर करते हुए सभी को एक समान भक्ति मार्ग अपनाते हुए मुक्ति का मार्ग दिखाया। अहोम राज्य के बढ़ते प्रभाव को स्पष्ट करते हुए सांवरमल सांगानो लिखते हैं-''आज भारतवर्ष के इस पूर्वोत्तर अंचल के पूर्व में परशुरामकुंड से लेकर पश्चिम में करतीया नदी की सीमा तक अनेक छोटे बड़े राज्य फैल गए हैं। पूर्वी सीमा पर पड़ोसी ब्रह्म देश से आए हुए अहोमो को अपना राज्य स्थापित किए लगभग ढाई सौ वर्ष हो गए। हमारे पूर्वज भी कन्नौज से आकर यहाँ बसे। यहाँ जो भी बाहर से आया उसने अपने आप को यहाँ की मिट्टी में रंग लिया, यहाँ की संस्कृति से समरूप कर लिया। आपके वंशज तो हमारी तरह बाहर से नहीं आए वरन न जाने कितनी ही शताब्दियों से यहीं रहे हैं।''[5] असम की संस्कृति एवं यहाँ की मिट्टी में अलग तरह का अपनापन है जो किसी भी मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करता है। यह उक्ति केवल असम के लिए ही नहीं पूरे भारतवर्ष के लिए सत्य है कि यहाँ जो भी आए वे यहीं के होकर रह गए। इस प्रसंग पर जयशंकर प्रसाद कि पंक्ति सटीक बैठती है-

''अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।।
सरल तामरस गर्भ विभा पर, नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर, मंगल कुंकुम सारा।।
लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे''[6]

महान बांग्ला के कवि गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर भी लिखते हैं कि इस देश में शक, हूण, आर्य, मुगल अंग्रेज आए और सबको इस देश कि मिट्टी ने अपने आप में समाहित कर लिया। गुरुदेव ने भारतवर्ष को महामानवों का समुद्र कहा है। महापुरुष शंकरदेव भी इसी पुण्यभूमि भारतवर्ष की संतान हैं। इस देश की मिट्टी का कर्ज उन्होंने समरसता के माध्यम से उतार दिया। आज उनके द्वारा दिये गए उपदेशों एवं उनके द्वारा दिखाये गए

मार्ग को प्रशस्त कर उसका अनुसरण करने की आवश्यकता है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर कि कविता 'जागो रे' का एक अंश-

''हे मोर चित्त, पुण्य तीर्थे जागो रे धीरे.
एइ भारते महामानवे सागर तीरे.
जागो रे धीरे.
हेथाय आर्य, हेथाय अनार्य, हेथाय द्राविड़-छीन.
शक-हूण डीके पठान-मोगल एक देहे होलो लीन.
पश्चिमे आजी खुल आये द्वार
सेथाहते सबे आने उपहार'
दिबे आर निबे, मिलाबे-मिलिबे.
जाबो ना फिरे''[7]
(लिप्यंतरण)

श्रीमंत शंकरदेव के पास जीवन में बहुत-सी विपत्तियाँ आयीं परंतु वे कभी उनके सामने हारे नहीं। उन्होंने सारी समस्याओं का सामना डट कर किया और यही उपदेश उन्होंने अपने शिष्यों को भी दिया। उनके जीवन प्रसंग से जुड़ी हुई कई ऐसी घटनाएँ हैं जो इस तरह की समस्याओं से उनको निपटते हुए दिखलाती हैं। अपनी सूझ-बूझ एवं बुद्धिमता से महापुरुष शंकरदेव ने असम के समाज को एक सूत्र में बांधने का सफल प्रयास किया। इसी प्रकार एक घटना का उल्लेख है। ''राजसभा से शंकरदेव के लिए बुलावा आया। वे समझ गए कि उन्हें क्यों बुलाया गया है। उन्हें आने वाली अनिष्ट का भान हो गया, पर वे विचलित नहीं हुए। उन्हें पता था कि जो भी व्यक्ति कुछ नया करना चाहता है उसे विघ्न-बाधाओं का सामना भी करना ही पड़ता है। पहले भी संत पुरुषों ने कम विपदाओं का सामना नहीं किया। किन्तु विपदा से जीवन में गति भी आती है। विपदा जितनी ही बड़ी होती है, उससे मिलने वाली सिद्धि भी उसी अनुपात में बड़ी होती है। जिसके जीवन में विपदा नहीं उसे सफलता भी कम ही मिलती है।''[8] ऐसी ही विपदा कबीर को, तुलसी दास को बनारस में झेलनी पड़ी थी। फिर भी वे संत कभी हार नहीं माने। यह समस्या केवल तब की नहीं थी आज भी हमारे समाज में सनातन धर्म के प्रचारक साधु-संतों पर तथाकथित लोग हमेशा हमले करते हैं। विगत कुछ वर्षों में देश में साधु-संतों पर हो रहे हमले इस बात के प्रमाण है कि सनातन धर्म एवं संस्कृति आगे बढ़ रही है। समाज को एकता की डोर में बांधने के लिए एक आदर्श का महत्वपूर्ण योगदान है। शंकरदेव के समय असम एवं देश राजनीतिक रूप से अस्थिर था। ऐसी विषम परिस्थितियों के मध्य एकता और भाईचारे से परिपूर्ण एक समाज के गठन की महान इच्छा के साथ शंकरदेव ने नव-वैष्णव आंदोलन की शुरूआत की। उन्होंने अपने इस महान कार्य में कई बाधाओं का सामना किया। नव-वैष्णव आंदोलन के प्रति खुशी-खुशी जिन्होंने समर्थन दिया वह समाज के शोषित और पीड़ित लोग थे।

महापुरुष शंकरदेव ने गीत, संगीत, गायन, वादन, नृत्य, नाटक, अभिनय, चित्रकारी आदि से संबंधित कई पुस्तकों की रचना की। मार्कंडेय पुराण के आधार पर शंकरदेव ने 615 छंदों का हरिश्चंद्र उपाख्यान लिखा। 'भक्तिप्रदीप' में भक्तिपरक 308 छंद हैं। इस रचना का आधार गरुड़पुराण है। हरिवंश तथा भागवतपुराण की मिश्रित कथा के सहारे इन्होंने 'रुक्मिणीहरण' काव्य की रचना की। शंकरकृत कीर्तनघोषा में ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण तथा भागवतपुराण के विविध प्रसंगों का वर्णन है। वामनपुराण तथा भागवत के प्रसंगों द्वारा 'अनादिपतनं' की रचना हुई। अंजामिलोपाख्यान 426 छंदों की रचना है। 'अमृतमंथन' तथा बलिछलन का निर्माण अष्टम स्कंध की दो कथाओं से हुआ है। 'आदिदशम' कवि की अत्यंत लोकप्रिय रचना है जिसमें कृष्ण की बाललीला के विविध प्रसंग चित्रित हुए हैं। 'कुरुक्षेत्र' तथा 'निमिमनसिद्धसंवाद' और 'गुणमाला' उनकी अन्य रचनाएँ हैं। उत्तरकांड रामायण का छंदोबद्ध अनुवाद उन्होंने किया। विप्रपत्नीप्रसाद, कालिदमनयात्रा, केलिगोपाल, रुक्मिणीहरण नाटक, पारिजात हरण, रामविजय आदि नाटकों का निर्माण शंकरदेव ने किया। असमिया वैष्णवों के पवित्र ग्रंथ 'भक्तिरत्नाकर' की रचना इन्होंने संस्कृत में की। इसमें संप्रदाय के धार्मिक सिद्धांतों का निरूपण हुआ है। वैष्णव भक्ति परंपरा को सशक्त करती हैं इनकी सभी रचनाएँ।

प्रोफेसर इन्दिरा गोस्वामी ने श्रीमंत शंकरदेव के संबंध में लिखा है। ''असमिया संस्कृति को उस पराकाष्ठा पर ले जाने में श्रीमंत शंकरदेव की सबसे बड़ी भूमिका रही है। वे मात्र वैष्णव संत ही नहीं, अपितु गीत, संगीत, गायन, वादन, नृत्य, नाटक, अभिनय, चित्रकारी आदि विभिन्न ललित कलाओं के अनुपम शिल्पी भी थे। उन्होंने पाखंड, कर्मकांड, अंधविश्वास, जातिभेद, बलि प्रथा, और वामाचार में खोये असमवासियों में धर्म कि वास्तविक शुचिता, सहजता, करुणा आदि मानवीय गुणों से नव चेतना विकसित करने का क्रांतिकारी कार्य किया। श्री शंकरदेव द्वारा असमिया समाज में की गयी सामाजिक क्रांति के लिए उन्हें कई बार सामाजिक एवं राजकीय प्रताड़नाएं भी सहनी पड़ीं। फिर भी वे जीवन के अंतिम क्षण तक लोककल्याण और रचनाकार्य में रत रहे।''[9] महापुरुष शंकरदेव ने ब्राह्मणों की पारंपरिक रूढ़िवादिता का अपनी प्रगतिशील विचारधारा से विरोध किया। ऐसे समय में जब मनुष्य सिर्फ जन्म से ऊंचा या निम्न श्रेणी का माना जाता था, सामंती विचारधारा के राजा की सामान्य जनता के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी, ऐसे समय में महापुरुष शंकरदेव का यह साहसी कदम काफी महत्वपूर्ण था। उनकी रचनाएं इस बात को प्रमाणित करती है कि समाज के सभी वर्ग के लोगों को एक सूत्र में जोड़ने का उनका महान उद्देश्य था।

संदर्भः-

1. लोहित के मानस पुत्र शंकरदेव, सांवरमल सांगानेरिया, हेरिटेज पब्लिकेशंस, गुवाहाटी, 2011, पृ. 458
2. वही, पृ. 12
3. वही, पृ. 338
4. वही, पृ. 11
5. वही, पृ. 103
6. अरुण यह मधुमय देश हमारा, जयशंकर प्रसाद, कविता कोश
7. जागो रे, रवीन्द्रनाथ टैगोर, दिव्य नर्मदा
8. लोहित के मानस पुत्र शंकरदेव, सांवरमल सांगानेरिया, हेरिटेज पब्लिकेशंस, गुवाहाटी, 2011, पृ. 372
9. वही, प्रोफेसर इन्दिरा गोस्वामी द्वारा लिखित भूमिका से।

ईमेल- sunilbhu50@gmail com
skshaw@nehu.ac.in

❖❖❖

प्राग्ज्योतिका त्रैमासिक शोध पत्रिका के प्रवेशांक का लोकार्पण

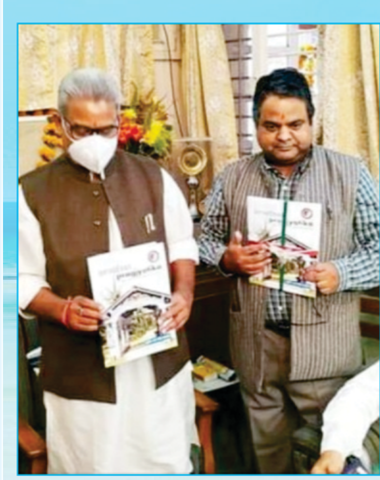

प्राग्ज्योतिका पत्रिका का लोकार्पण

कहां

दीपावली के शुभ अवसर पर बहुप्रतीक्षित 'प्राग्ज्योतिका' पत्रिका का दिल्ली में लोकार्पण हुआ। प्राग्ज्योतिका पत्रिका, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मानकों के अनुसार 'पीयर रिव्यूड एंड रेफ्रीड' शोध पत्रिका है। यह पत्रिका साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान और प्रदर्शनकारी कलाओं पर केंद्रित है। प्राग्ज्योतिका का पहला अंक पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित है। यह पत्रिका प्रोफेसर चंदन कुमार के संपादकत्व में निकल रही है। प्राग्ज्योतिका के प्रथम अंक में पूर्वोत्तर भारत की कला एवं संस्कृति में रुचि रखने वाले प्राध्यापकों, शोधार्थियों एवं गणमान्य लेखकों के लेख प्रकाशित हैं। यह पत्रिका भारत-संवाद का एक माध्यम है। पत्रिका के लोकार्पण कार्यक्रम में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह सरकार्यवाह डॉ. कृष्ण गोपाल, प्रो. चन्दन कुमार, संस्कृत भारती के अखिल भारतीय संगठन मंत्री दिनेश कामत जी, प्रचारक मनोजकांत, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. नागेश्वर राव, सम कुलपति प्रो. सत्यकाम, दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलसचिव विकास गुप्ता, पाञ्चजन्य पत्रिका के संपादक हितेश शंकर, एपीएन न्यूज की प्रमुख राजश्री राय, न्यायाधीश प्रवीण सिंह, भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारी डॉ. सचिन सिंघल, लोकसभा टीवी के अनुराग पुनेठा, समाजसेवी पंकज लूथरा सहित भारतीय प्रशासनिक सेवा के कई गणमान्य अधिकारियों की उपस्थिति रही।

दीपावली के शुभ अवसर पर बहुप्रतीक्षित 'प्राग्ज्योतिका' पत्रिका का लोकार्पण

लखनऊ। प्राग्ज्योतिका पत्रिका,विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मानकों के अनुसार 'पीयर रिव्यूड एंड रेफ्रीड' शोध पत्रिका है। यह पत्रिका साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान और प्रदर्शनकारी कलाओं पर केंद्रित है। प्राग्ज्योतिका का पहला अंक पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित है। यह पत्रिका प्रोफेसर चंदन कुमार के संपादकत्व में निकल रही है। प्राग्ज्योतिका के प्रथम अंक में पूर्वोत्तर भारत की कला एवं संस्कृति में रुचि रखने वाले प्राध्यापकों, शोधार्थियों एवं गणमान्य लेखकों के लेख प्रकाशित हैं। यह पत्रिका भारत-संवाद का एक माध्यम है। पत्रिका के लोकार्पण में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह सरकार्यवाह डॉ. कृष्ण गोपाल, प्रो. चन्दन कुमार, कार्यक्रम में संस्कृत भारती के अखिल भारतीय संगठन मंत्री दिनेश कामत, प्रचारक मनोजकांत, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. नागेश्वर राव, सम कुलपति प्रो. सत्यकाम, दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलसचिव विकास गुप्ता, हितेश शंकर, राजश्री राय जी, न्यायाधीश प्रवीण सिंह जी, भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारी डॉ. सचिन सिंघल, अनुराग पुनेठा, समाजसेवी पंकज लूथरा सहित भारतीय प्रशासनिक सेवा के कई गणमान्य अधिकारियों की उपस्थिति रही।

डॉ. रवीन्द्र कुमार सेठ और डॉ. रमेश सेठ को किया सम्मानित

सम्मान

- भारतीय साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान के लिए अभिनंदन-पत्र और प्रमाण-पत्र देकर सम्मानित किया गया
- 'प्राग्ज्योतिका' पत्रिका का भी हुआ विमोचन

हिन्द ब्यूरो

नई दिल्ली। तमिल और हिंदी साहित्य के विद्वान डॉ. रवीन्द्र कुमार सेठ का सम्मान समारोह का आयोजन स्वतंत्रता संग्राम और प्रवासी अध्ययन केंद्र, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली किया गया। इस दौरान डॉ. रवीन्द्र कुमार सेठ और और डॉ. रमेश सेठ को भारतीय साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान के लिए अभिनंदन-पत्र और प्रमाण-पत्र देकर सम्मानित किया गया। इस अवसर पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह सरकार्यवाह डॉ. कृष्ण गोपाल ने डॉ. सेठ के साहित्यिक सांस्कृतिक योगदान पर अपने विचार रखे और उनका सम्मान किया। कार्यक्रम में संस्कृत भारती के अखिल भारतीय संगठन मंत्री दिनेश कामत,प्रचारक मनोजकांत, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. नागेश्वर राव, सम कुलपति प्रो. सत्यकाम, दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलसचिव विकास गुप्ता, पाञ्चजन्य पत्रिका के संपादक हितेश शंकर, एपीएन न्यूज की प्रमुख राजश्री राय, न्यायाधीश प्रवीण सिंह,भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारी डॉ. सचिन सिंघल, पत्रकार अनुराग पुनेठा, समाजसेवी पंकज लूथरा सहित भारतीय प्रशासनिक सेवा के कई गणमान्य अधिकारियों की उपस्थिति रही। इस अवसर पर पूर्वोत्तर भारत के साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान, और प्रदर्शनकारी कलाओं पर आधारित पत्रिका छ्प्राग्ज्योतिकाछ्र का विमोचन भी हुआ। कार्यक्रम का संयोजन प्रो. चन्दन कुमार के निर्देशन में संपन्न हुआ।